ओ३म्

विधवोद्वाहमीमांसा

जिसमें
शास्त्रीय और लौकिक प्रमाणों के आधार
पर विधवाविवाह की निष्पक्ष
आलोचना की गई है

लेखक

पं० बदरीदत्त जोशी

संवत् १९८५ वि०

द्वितीय संस्करण
[illegible] २०००

मूल्य १)

प्रकाशक
पं० बदरीदत्त जोशी,
प्रेमाश्रम, ताड़ीखेत,
(रानीखेत
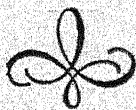
मुद्रक
रघुनन्दन शर्म्मा
हिन्दी प्रेस, प्रयाग
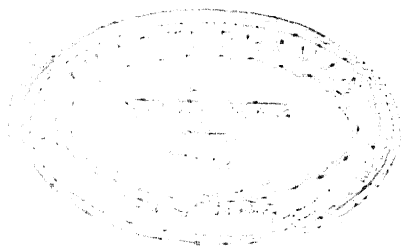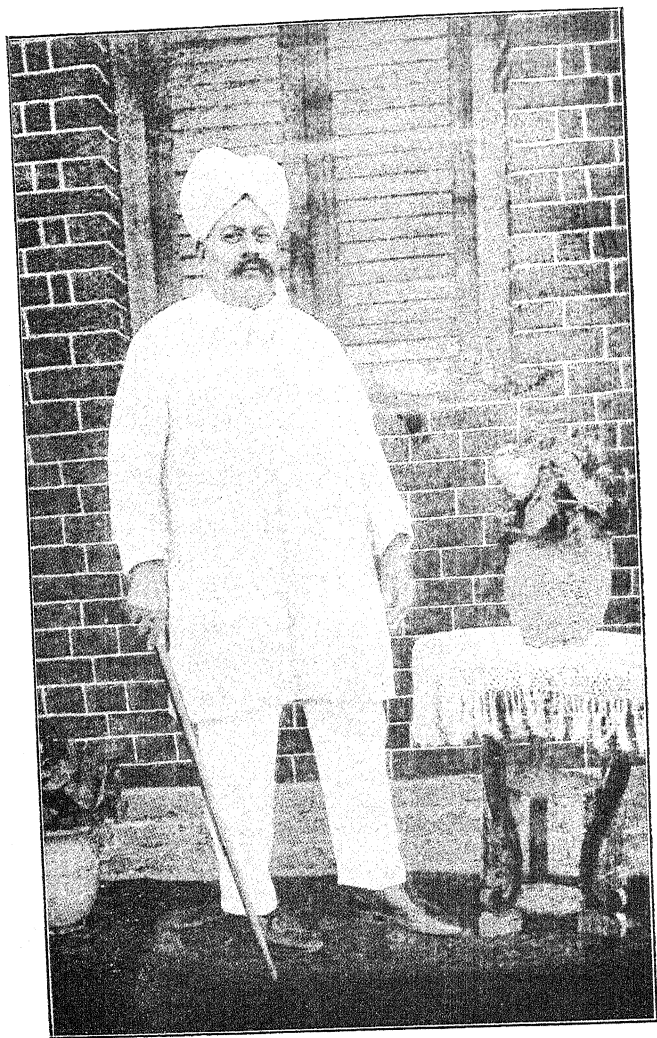
श्रीमान दानबीर वैजनाथ सिंह ।

ठाकुर बैजनाथसिंहजी का संक्षिप्त परिचय

पाठक ! जिनका भव्य चित्र आप पुस्तकारम्भ में देख रहे हैं उन्हीं की कृपा और सहायता से यह 'विधवोद्वाहमीमांसा' इस रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत हुई है। यद्यपि आप काम को चाहते हैं, नाम को नहीं । तथापि "भवोहि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्" इस कालिदासोक्ति के अनुसार ऐसे प्रतापी पुरुषों का जन्म अपने लिए नहीं होता, किन्तु दूसरों के लिए होता है। हम आपका संक्षिप्त परिचय पाठकों को देना चाहते हैं। आशा है कि पाठक उससे समयानुकूल लाभ उठायेंगे।

वंशपरंपरा

आपकी वंशपरंपरा शकप्रवर्तक शालिवाहन से मिलती है। आपके पूर्वज अवध की रियासत खजूर गाँव के जागीरदार थे। किसी कारणवश आपके पिता श्रीअयोध्यासिंह जी अपनी पैतृक संपत्ति और भूमि सब छोड़कर आपके मातामह के ग्राम में जो ज़िले प्रतापगढ़ में था, रहने लगे। आपकी पैतृक संपत्ति पर अन्य कुटुम्बियों ने अधिकार कर लिया। कालचक्र ने आपके पिता को प्रतापगढ़ प्रान्त में भी शान्त न रहने दिया। "अहो !! निधनता सर्वापदामास्पदम्"

परन्तु आप जैसा भाग्यशाली पुत्र जिस माता की गोद में हो, वह धन्य है। आप अपने पिता के सब से कनिष्ठ सन्तान थे। निर्धनता की गोद में आप पले, इस लिए आप की शिक्षा का प्रबन्ध भी समुचित न हो सका, पृथ्वीगंज की पाठशाला में जो आपके ग्राम से निकट थी, आप ने साधारण शिक्षा पाई। आप की इच्छा आगे पढ़ने की भी थी, परन्तु

धनाभाव के कारण पूरी न हो सकी। आपको धनाभाव के कारण निर्धन विद्यार्थियों की जो दशा होती है और जिस प्रकार वे अपना मन मसोस कर रह जाते हैं, उसका पूर्ण अनुभव है और इसी लिए आप अपनी कमाई का सदुपयोग विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने में बड़ी उदारता से करते हैं।

जीविका

"जिन खोजा तिन पाइयां" के अनुसार आपने अंगरेज़ी में भी काम चलाऊ अभ्यास कर लिया। देवनागरी तो मातृभाषा थी और उर्दू की शिक्षा स्कूल में पाई थी। १४ वर्ष की अवस्था में ही आप जीविका की चिन्ता में चुपचाप घर से चल दिये। पहले खजूरगांव पहुँचे और रानाजी को उर्दू भाषा में लिख कर एक प्रार्थना पत्र दिया। उसपर आज्ञा हुई कि अभी कोई स्थान रिक्त नहीं है।" वहां से तत्काल बनारस को चले आये। बनारस में उन दिनों रेलवे पुल बन रहा था, उसमें कुछ दिन काम करके जब किराये के अतिरिक्त एक मास के निर्वाहार्थ कुछ द्रव्य पास हो गया, तब आप वहां से कलकत्ते के लिए प्रस्थित हो गये।

कलकत्ते में पहुँचकर गंगा के किनारे सरकारी कार्यालय में काम करना शुरू कर दिया। वहां पर जो इनके अधीन कुली थे, उन्हें रात को एक घण्टा पढ़ाना भी पड़ता था, जिससे २०) मासिक के लगभग प्राप्ति होने लगी। अब इनके माता पिता को यह तो मालूम हो गया कि हमारा पुत्र कलकत्ते में है। इस लिए उन्होंने अपने द्वितीय पुत्र श्री बा० फतहबहादुरसिंह को जो उस समय इनानजांव (ब्रह्मा) में थे लिखा कि इनको अपने पास बुला लो। बस अब क्या था, यह इनानजांव पहुँचे और वहां १५) मासिक पर गोरों की नौकरी करने लगे। काम बड़ा सख़्त था, रात भर बन्दूक हाथ में लेकर पहरा देना।

कई दफ़े डांकुओं का मुक़ाबला हुआ और उनको परास्त किया। ऐसी सख़्त ड्यूटी और १५) मासिक। इस काम में विशेष उन्नति न देखकर आपने यह नौकरी छोड़ दी।

व्यवसाय

अब आपने स्वतन्त्र व्यवसाय करना आरम्भ किया, ईश्वर की कृपा से दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी। थोड़े ही दिनों में आपका व्यवसाय ख़ूब चमक उठा, कारण आपकी व्यवहारदक्षता, प्रामाणिकता और उद्योगशीलता आदि गुण थे। इस बीच में आपके माता पिता दोनों तीन दिन के अन्तर में सुरलोक को पधारे। शोक है कि जिस पुत्र की आशा में उन्होंने अपने दुर्दिन बिताये, उसका अभ्युदय वे अपनी आंखों से न देख सके, अस्तु पुत्र का भाग्योदय सुनकर स्वर्ग में ही उनकी आत्मा को सन्तोष मिला होगा।

अभ्युदय

३२ वर्ष की आयु में आपने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया गृहिणी साक्षात् लक्ष्मी का रूप थीं, उनके आते ही आपका गृह लक्ष्मीनिवास हो गया। मिट्टी के तेल का व्यवसाय ही आपके अभ्युत्थान का कारण हुवा, जिसका संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है—यहां पर ब्रह्मदेश में मिट्टी के तेल की खानें बहुतायत से हैं, इनके स्वामी अपने मद्यपान आदि दुर्व्यसनों के कारण अपव्ययी थे। अतएव वे अपने तेल के कूप धरती (बावली) आपके यहां बेच बेच कर आपसे द्रव्य तथा खाद्य पदार्थ लेने लगे। कुछ ही काल में आपके पास ५२ कूप की धरती हो गई। जब उनका दाम चौगुना पचगुना हो गया, तब आपके सब कुटुम्बियों की यह इच्छा हुई कि अब इनको बेच दिया जाय।

परन्तु आपकी दूरदर्शिता और साहस ने उस समय भी काम दिया और यही तय पाया कि इनसे काम लिया जाय। अब आप और असमंजस में पड़े कि यदि हाथ से तेल निकालने का काम किया जाय तो व्यय की अपेक्षा बहुत अल्प लाभ होने की संभावना है। और यदि यूरोप और अमेरिका से मैशीनरी मँगवाई जांय तो लाखों का खर्च है, कहां से आये? इस पर सबने फिर विरोध करना शुरू किया। पर धन्य है वीर तुम्हारे साहस को "उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी"! आप सब कागज़ात और अधिकार अपने हाथ में लेकर धन संग्रहार्थ बाहर चले गये और अपने अविकल प्रयत्न से आपने एक "नाथसिंह आयल कम्पनी" ४२ लाख की पूँजी से रजिस्टरी कराकर ही छोड़ी, सामान सब अमेरिका से मँगाया गया, कार्य आरम्भ हुआ। इसपर भारतीय कम्पनी होने से उसका काम चलने में बड़ी बड़ी अड़चनें चारों ओर से होने लगीं और कई अभियोग भी उठ खड़े हुए। परन्तु आपके साहस और बुद्धिबल रूपी भास्कर के सामने सारा अन्धकार छिन्नभिन्न हो गया।

वर्त्तमानदशा

इस समय आपकी कंपनी की संपत्ति कई गुनी अधिक बढ़ गई है। कूपों की संख्या भी कई गुनी होगई है। कार्यालय का प्रबन्ध भी बहुत उत्तम है, सब विभागों का काम आप स्वयं निरीक्षण करते हैं।

उत्तराधिकारी

आपके दो चिरंजीवी पुत्र हैं। बड़े श्रीवेदनाथसिंह और छोटे श्रीमहीनाथसिंह। दोनों अभी तक ब्रह्मचारी और अविवाहित हैं आपका पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् विवाह करने का इरादा है। आप ने मातृभाषा संस्कृत और अंगरेज़ी की शिक्षा उनको दिलाई है।

अवस्था और दिनचर्या

आपकी अवस्था इस समय ६० वर्ष की है। शरीर से आप हृष्ट पुष्ट और प्रसन्न वदन हैं। इस वृद्धावस्था में भी आप कार्यालय में दस ग्यारह घंटे निरन्तर काम करते हैं। आपके स्वास्थ्य को देखकर जवानों को ईर्ष्या होती है। आपका जीवन बिलकुल संयत है। खानपान आपका बिलकुल सादा है, जो स्वच्छ और सात्विक पदार्थों पर अवलम्बित है। आचार व्यवहार आपका शुद्ध भारतीय है। स्वभाव आपका मृदुल और दयालुता पूर्ण है। दीन विधवाओं की दशा से आपको अत्यन्त संवेदना है और उनकी करुणाजनक दशा को देख कर आपका हृदय द्रवीभूत हो जाता है।

सत्कार्य

आपने जैसी कठिनताओं का सामना करके धनोपार्जन किया है, ऐसे हो देश हितकर कार्यों में उसका सदुपयोग करके अपनी देशहितैषिता का परिचय दे रहे हैं। सैकड़ों छात्रों को छात्र वृत्तियां, विधवाओं को सहायता और पाठशालाओं की स्थापना के अर्थ आपने लाखों रुपयों का दान किया है। एक लाख रुपये का दान तो आपने क्षत्रिय कालिज लखनऊ को अभी हाल में दिया है। दो लाख बीस हज़ार रुपये से आपने पिछले समर में सरकार की सहायता की थी जो कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार की गई। इस समय आपको सहायता से निम्न लिखित संस्थायें चल रही हैः—

१—नाथ क्षत्रिय ब्रह्मचर्याश्रम काशी—इसमें २०० से ऊपर ब्रह्मचारो रहते हैं, जिनके पालन पोषण और शिक्षादि का व्यय-भार समस्त आपही उठाते हैं।

२—संस्कृत देवनागरी पाठशाला रंगून—यह अब हाईस्कूल हो गया है।

३—बेली संस्कृत पाठशाला रायबरेली—इसमें शिक्षा का संपूर्ण भार और लगभग ८० छात्रवृत्ति दस दस रुपये मासिक की आप देते हैं।

४—श्री बैजनाथसिंह पाठशाला इनानजांव—इसमें निःशुल्क शिक्षा हिन्दी, संस्कृत और अंगरेजी की दी जाती है और इसका संपूर्ण व्यय भार आप ही पर है।

इसके अतिरिक्त फुटकर सहायता अनाथ विद्यार्थियों और विधवाओं को जो समय समय पर आप देते रहते हैं, उसका कोई हिसाब नहीं। आप का द्वार पात्रों के लिए सदा खुला हुआ है, कोई प्रार्थी उससे विमुख नहीं जाता।

स्वावलम्बन का आदर्श

पाठक! देखिए!! एक वीर क्षत्रिय बालक जिससे माता पिता का कष्ट नहीं देखा गया, चुपचाप ईश्वर पर भरोसा करके घर से बाहर निकलता है। सहानुभूति तो दूर रही कोई सलाह तक देनेवाला भी नहीं। पर उस बालक के साहस और वीरता को तो देखिये कि अपने ऊपर भरोसा करके जीवन संग्राम में अकेला कूद पड़ता है और सब विघ्न बाधाओं को परास्त करके सफलता की सबसे ऊँची चोटी पर जा बैठता है। हमारे चरितनायक का जीवन क्या है? आत्मविश्वास और स्वावलम्बन का एक जीता जागता आदर्श है। यह आदर्श हमारे देश के नवयुवकों के लिये जिन पर भारतमाता की आशायें अवलम्बित हैं, पथप्रदर्शन का काम करे, इसीलिये हमने चरित नायक की इच्छा न होते हुवे भी इसे पाठकों की भेट किया है।

विषयानुक्रमणिका

पं० बद्रीदत्त जोशी
(जन्मसंवत् १९२३ वि०)

प्रस्तावना ।

विवाह का उद्देश ।

इस सृष्टि की गाड़ी को चलाने के लिए विधाता ने स्त्री और पुरुष रूप दो चक्र निर्माण किए हैं। ये दोनों मिलकर ही सृष्टि के उद्देश को पूरा कर सकते हैं, पृथक् २ रह कर नहीं। इसीलिए प्रकृति देवी ने इनमें परस्पर सख्य और साहचर्य स्थापित किया है। जहां जहां मनुष्य-सृष्टि है, वहां वहां हम इन दोनों को मिलकर रहते और काम करते हुवे पाते हैं। यहां तक कि जंगली और असभ्य जातियों में भी स्त्री पुरुषों का स्वाभाविक प्रेम और सहवास अनिवार्य है। चाहे वह अनिर्बन्ध और अमर्याद ही क्यों न हो, इस प्रेम को पवित्र और स्वर्गीय बनाने के लिए संसार की समस्त सभ्य जातियों ने विवाह का बन्धन नियत किया है। यदि यह बन्धन न होता, न तो गृहस्थाश्रम ही होता और न सन्तान या वंश की परंपरा ही इस संसार में चलती। गृहस्थाश्रम जो सब आश्रमों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ माना गया है इसी विवाह का परिणाम है। यदि विवाह न होता तो फिर मनुष्यों में और पशुओं में कुछ भी अन्तर न होता।

विवाह के दो उद्देश सर्वसम्मत हैं, (१) दाम्पत्य प्रेम (२) सन्तानोत्पत्ति। इन दोनों में भी पहिला ही मुख्य है, क्योंकि उसके विना न तो कोई गृहस्थ का आनन्द ही अनुभव कर सकता है और न योग्य एवं अनुकूल सन्तान की उपलब्धि हो सकती है। यों सन्तान तो पशु पक्षी भी उत्पन्न करते हैं और समर्थ होने तक उनका लालनपोषण भी करते हैं। दाम्पत्यप्रेम के ही कारण एक दरिद्र और अकिञ्चन का घर भी स्वर्ग

बन जाता है और इसके अभाव में संपन्न और समृद्ध घर भी कांटे की तरह खटकता है। इस दाम्पत्यप्रेम की महिमा अचिन्त्य और अवर्णनीय है। बड़े बड़े ऋषि मुनि भी उसका वर्णन करते करते थक गये हैं। मनुष्यजन्म पाकर जिन्होंने इस प्रेमपीयूष का पान नहीं किया वे या तो योगी हैं या पशु।

अब प्रश्न यह है कि यह दाम्पत्यप्रेम जो विवाह का सर्वोच्च उद्देश और गार्हस्थ्य जीवन का सर्वस्व है, स्त्री पुरुषों में कब और क्योंकर रह सकता है? संसार में प्रेम का आधार केवल एक वस्तु है, जिसको समता कहते हैं। सहानुभूति विषमता में भी होती है, पर प्रेमलता सर्वत्र समता की टट्टी में ही फैलती है। विषमता की ऊंची नीची भूमि में उसे फैलने का अवकाश ही नहीं मिलता। मन का धर्म है कि वह अनुकूल वस्तु को पाकर प्रसन्न और प्रतिकूल से अप्रसन्न होता है। अनुकूलता विना समता का आधार पाये ठहर नहीं सकती, वह विषमता से उतनी ही दूर भागती है, जितनी कि पर्वत की विषमभूमि से कोई नदी। भय या आतङ्क से प्रेम नहीं, किन्तु उद्वेग उत्पन्न होता है। जो लोग अपने धनमद, बलमद या धर्ममद से इस प्राकृतिक नियम का उल्लंघन करके असमानों में मैत्री स्थापन करना चाहते हैं, वे वास्तव में मित्रता को शत्रुता के रूप में परिणत करना चाहते हैं। जैसा कि किसी कवि ने कहा है:—

सरलयोः सखि सख्यमुदीरितं तरलयोर्घटनैव न जायते।
यदि भवेत्तरले सरलेऽथवा न चिरमस्ति धनुः शरयोरिव ॥*

---

* दो सरल (सीधे) व्यक्ति या पदार्थों में मित्रता या मेल हो सकता है, तरल (टेढ़ों) में नहीं। यदि खींच तान कर कोई टेढ़े और सीधे में मेल करना चाहे तो वह धनुष और बाण के समान क्षणिक होगा।

प्राचीन भारत की स्त्रियां ।

मन के इस प्राकृतिक झुकाव को देखकर ही संसार की समस्त सभ्य जातियों में युवा और समर्थ स्त्री पुरुषों के विवाह की परिपाटी प्रचलित है। क्योंकि बाल्यावस्था में न तो वे एक दूसरे को परीक्षा ही कर सकते हैं और न उनकी की हुईं प्रतिज्ञायें किसी धर्म या कानून की दृष्टि में कुछ मूल्य रखती हैं। इस विषय में और २ देशों ने तो पीछे से उन्नति की है, पर भारत का प्राचीन इतिहास देखने से पता लगता है कि यहां पूर्वकाल में मानसिक, शारीरिक और सामाजिक जो कुछ उन्नति हुई, उसमें भारतीय महिलाओं ने किसी अंश में भी पुरुषों से कम भाग नहीं लिया। और तो और ब्रह्मविद्या जैसी सूक्ष्म और महाविद्या के अध्ययन और प्रवचन में भी हम याज्ञवल्क्य और जनक जैसे तत्वदर्शियों के साथ गार्गी और सुलभा जैसे स्त्रीरत्नों को बराबर काम करता हुवा पाते हैं। ऋग्वेद के (जो संसार के साहित्य में सब से प्राचीन पुस्तक है) ऋषियों में जहां हम विश्वामित्र, वामदेव और वसिष्ठ आदि पुरुषों का नाम पाते हैं, वहां घोषा, लोपामुद्रा और विश्ववारा आदि स्त्रियों का नाम भी चमकते हुवे अक्षरों में लिखा पाते हैं। शास्त्रार्थ, युद्ध, यात्रा और उत्सवों में न केवल स्त्रियां सम्मिलित होती थीं, किन्तु महत्वपूर्ण भाग लेती थीं, इसके शतशः प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान हैं।

प्राचीन काल में हमारा कोई धार्मिक और सामाजिक कृत्य ऐसा नहीं था, जो स्त्रियों के विना केवल पुरुषों से किया जाता हो। चारों आश्रमों में पुरुषों के समान ही इन का अधिकार था। ये ब्रह्मचारिणी होकर गार्गी और सुलभा के सदृश स्वाध्याय में अपना जीवन व्यतीत करती थीं और गृहस्थाश्रम की तो अधिष्ठात्री देवी ही मानी जाती थीं। वानप्रस्थ में

जाकर पुरुषों के सम्बन्ध से नहीं किन्तु अपनी योग्यता से ऋषिका (१) और आचार्या (२) बनती थीं। विरक्त होकर मोक्षधर्म में अभिनीत होने का इनको भी वैसा ही अधिकार (३) था, जैसा कि पुरुषों को। बौद्धकाल में भी इस देश की स्त्रियों के ये अधिकार अक्षुण्ण थे। निदान मानवजीवन के उपयोगी किसी अंश में भी भारतीय महिलायें पुरुषों के पीछे नहीं रहती थीं।

स्त्रीजाति का महत्त्व।

हमारे लिए यह कितने गौरव का स्थान है कि सब से पहले इस संसार में स्त्रीजाति के महत्व को हमारे पूर्वजों के मस्तिष्क ने ही अनुभव किया। शक्तिरूप से ईश्वर की पूजा यदि किसी धर्म में पाई जाती है, तो वह हिन्दूधर्म ही है। हिन्दूधर्म की पुस्तकों में ईश्वर की इस शक्ति का वर्णन भिन्न भिन्न रीति से पाया जाता है। कहीं प्रकृति, कहीं माया, कहीं जननी और कहीं जाया के अर्थगौरवयुक्त नामों से इसी जगद्धात्री आद्या शक्ति का परिचय दिया गया है। संसार में केवल हिन्दूधर्म ही है जो सृष्टि से पहले अज और अजा (प्रकृति और पुरुष) दोनों की सत्ता को मानता है। ईसाइयों की इञ्जील में लिखा है कि "आरम्भ में ईश्वर ने हज़रत 'आदम' को उत्पन्न किया, जब 'आदम' को स्त्री की आवश्यकता हुई तो उसने अपनी पसली की हड्डी से 'हव्वा' को बनाया।" परन्तु भारत का सब से पहला दार्शनिक कपिल प्रकृति और पुरुष से सृष्टि का होना मानता है। मनु भी अपनी स्मृति में यही कहता है कि ब्रह्मा ने

---

(१) देखो सायणकृत ऋग्वेदभाष्य की अनुक्रमणिका।
(२) देखो सिद्धान्तकौमुदी ४-१-४९ सूत्र की व्याख्या।
(३) देखो महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ३२१।

अपने देह के दो भाग किए, आधे से स्त्री और आधे से पुरुष बना, तब यह सृष्टि उत्पन्न हुई।

इटली का प्रसिद्ध संशोधक जोज़ेफ़ मेज़िनी अपनी पुस्तक "मनुष्य के कर्त्तव्य" में लिखता है—"ईसाइयों की वर्त्तमान इञ्जील सर्गारम्भ में केवल पुरुष का उत्पन्न होना बतलाती है, परन्तु आगामी काल की इञ्जील स्त्री को भी सृष्टि के उत्पादन में पुरुष के बराबर ही भाग देगी।" बेचारे मेज़िनी को भारत की इञ्जील का पता न था, अन्यथा वह आगामी के स्थान में भूतकाल का संकेत करता।

संसार में तीन बल प्रसिद्ध हैं, धनबल, बाहुबल और विद्याबल। ये ही तीन बल मनुष्यजन्म की सफलता का कारण हैं। हिन्दूधर्म में इन तीनों बलों की अधिष्ठात्री देवता स्त्री को माना गया है। धनकामुक हिन्दू लक्ष्मी की, बलप्रार्थी शक्ति को और विद्यार्थी हिन्दू सरस्वती की आराधना करते हैं। पाठक! जिन लोगों ने मानवजीवन के सर्वस्व इन तीनों बलों की अधिष्ठात्री स्त्री को बनाया, उनकी दृष्टि में उसका कितना मान और गौरव था, इसका अनुमान करना कुछ कठिन नहीं है। प्राचीन स्त्रियों का हिन्दूसमाज में क्या स्थान था? इसके हम यहां पर केवल दो ही उदाहरण प्रस्तुत करेंगे, जो कि बृहदारण्यक उपनिषद् से सम्बन्ध रखते हैं। पहला, याज्ञवल्क्य और उसकी स्त्री मैत्रेयी का संवाद है। दूसरा, जनक की सभा में गार्गी वाचक्नवी का याज्ञवल्क्य के मान की रक्षा करना है।

जब याज्ञवल्क्य वानप्रस्थ आश्रम में जा रहे थे, तब उन्होंने अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी से कहा, "मैत्रेयि! मैं घर छोड़कर जा रहा हूं, मेरी इच्छा है कि अपनी सम्पत्ति का विभाग तुझ में और कात्यायनी में कर-जाऊँ, जिससे पीछे कोई झगड़ा न उठे।" इस पर मैत्रेयी ने कहा,

" भगवन् ! यदि यह धन से पूर्ण सारी पृथिवी मेरी होती तो क्या मैं उससे अमर हो जाती ?" याज्ञवल्क्य ने कहा, "नहीं, तेरा जीवन वैसा ही होता, जैसा कि धनवानों का होता है, धन से अमर होने की आशा नहीं।" तब मैत्रेयी ने कहा, " मैं उस वस्तु को लेकर क्या करूँ जिस से कि मैं अमर नहीं हो सकती ? अमृतत्व के विषय में आप जो कुछ जानते हैं, मुझ से कहिये।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा, " मैत्रेयि ! तू प्रियवचन कहती है, आ यहां पर बैठ और जो कुछ मैं कहता हूं, उसे ध्यान लगाकर सुन।" (बृहदारण्यक, अध्याय २ ब्राह्मण ४)।

तब याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उस अध्यात्मतत्व का उपदेश किया, जिसके जानने से मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। आजकल की स्त्रियों के समान पूर्वकाल की स्त्रियां धन और आभूषणों पर नहीं मरती थीं, किन्तु उनके जीवन का उद्देश विद्या और मुक्ति थी, इसका यह कैसा अच्छा उदाहरण है।

दूसरा उदाहरण गार्गी वाचक्नवी का है। विदेह के राजा जनक ने एक बड़ा यज्ञ किया, उसमें ब्राह्मणों को बहुत दक्षिणा दी गई। उस यज्ञ में कुरु और पञ्चालदेश के बहुत से ब्राह्मण आये थे। राजा जनक ने यह जानना चाहा कि इनमें सब से बड़ा विद्वान् कौन है। अतएव उसने एक हजार गायों को उनके सींगों में दस दस सुवर्ण के पदक बांधकर रोका और उन ब्राह्मणों से कहा कि आप लोगों में जो सबसे बड़ा विद्वान् हो, वह इन गायों को हांक ले जावे। यह सुनकर ब्राह्मण एक दूसरे की ओर देखने लगे। याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य सामश्रवा से कहा कि वह इन गायों को हाँककर ले जावे। गुरु की आज्ञानुसार शिष्य उन गायों को हाँककर ले गया। याज्ञवल्क्य का यह घमण्ड देखकर ब्राह्मण कुपित हुये और वे उससे कठिन एवं जटिल प्रश्न पर प्रश्न करने लगे।

याज्ञवल्क्य को जब उनका उत्तर देते देते पसीना आ गया, तब यकायक उस सभा में एक व्यक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और उसने ब्राह्मणों की अनुमति लेकर याज्ञवल्क्य से कहा:—

"जैसे किसी काशी वा विदेह के योद्धा का पुत्र अपने धनुष् को खींच कर दो नोकीले बाणों से अपने शत्रु को बींधना चाहता है, वैसे ही मैं दो प्रश्नों को लेकर तुमसे लड़ने के लिये उपस्थित हुई हूं।"

पाठकों को आश्चर्य होगा कि यह व्यक्ति एक स्त्री थी, जिसका नाम गार्गी वाचक्नवी था। ये दोनों प्रश्न किये गये और इन का उत्तर जब याज्ञवल्क्य दे चुके, तब गार्गी ने ब्राह्मणों से कहा कि "आप लोग नमस्कार करके याज्ञवल्क्य से अपना पीछा छुड़ायें, इसको जीतने का सामर्थ्य आप लोगों में नहीं है, ब्राह्मण चुप हो गये।" (बृहदारण्यक अ० ३ ब्रा० ८)।

इन और ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में स्त्रियों का जो स्थान था, वह हम को संसार की किसी भी प्राचीन जाति के इतिहास में नहीं मिलता। इसके पश्चात् मध्यकाल में भी जब इनके लिए कुछ २ सामाजिक बन्धनों का सूत्रपात हो चुका था बहुत सी स्त्रियों ने अपनी असाधारण योग्यता का परिचय दिया है। उनमें से भी यहाँ दो ही उदाहरण पर्याप्त होंगे। पहला मण्डन मिश्र की स्त्री भारती का, जिसने शङ्कर और मण्डन के शास्त्रार्थ में न केवल मध्यस्थता की, किन्तु पति के परास्त हो जाने पर शङ्कर से शास्त्रार्थ भी किया और इस प्रकार अपने पति को शङ्कर के बन्धन से मुक्त किया। (१)

दूसरा उदाहरण विदुषी विद्याधरी का है, जिसका विवाह धूर्त पण्डितों ने (जिनका उसने तिरस्कार किया था) छल से महामूर्ख कालि-

---

(१) देखो शङ्करदिग्विजय, अध्याय ८-९।

दास के साथ (जो उसी शाखा को काट रहा था जिस पर बैठा हुआ था) करा दिया। इस विदुषी स्त्री ने "अस्ति कश्चित् वाग्विभवः ?" इस एक ही प्रश्न से कालिदास को ऐसा महापण्डित और महाकवि बना दिया कि वह प्रश्नात्मक वाक्य के एक २ शब्द से एक २ महाकाव्य बनाने में समर्थ हुवा। अर्थात् 'अस्ति' से कुमारसम्भव, 'कश्चिद्' से मेघदूत और 'वाग्' से रघुवंश। (२)

विकास का विपरीत परिणाम ।

संसार के समस्त देशों का प्राचीन इतिहास देखने से पता लगता है कि आरम्भ में सर्वत्र ही बल का प्राधान्य था। जो जातियाँ इस बीसवीं शताब्दी में अपने ही देश में नहीं, किन्तु सर्वत्र न्याय की प्रतिष्ठा करना चाहती हैं, सभ्यता के आरम्भ में वे अपने ही निर्बल अङ्गों के साथ अन्याय करती थीं। ज्यों ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, त्यों त्यों उनका निर्बलों पर अत्याचार भी कम होता गया और साम्यवाद की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ती गई। पर यह कैसे आश्चर्य की बात है कि भारतवर्ष का इतिहास बिलकुल इसके विपरीत आदर्श हमारे सामने उपस्थित करता है। यहाँ ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई त्यों त्यों उसका उपयोग निर्बलों को दबाने और उनके प्राकृतिक स्वत्वों को कुचलने में किया गया। बल-वान् निर्बलों पर अत्याचार करने लगे और उनको ऐसे कठोर और भीषण धार्मिक तथा सामाजिक नियमों में जकड़ दिया गया कि वे जीते जी कभी उनसे छुटकारा न पा सकें, इसको हम विकास कहें या ह्रास ?

अब प्रश्न यह होता है कि सारे संसार के विरुद्ध भारत में ही सभ्यता का यह विषमय परिणाम क्यों हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन

(२) देखो मालविकाग्निमित्र नाटक की प्रस्तावना।

नहीं है। स्वतन्त्रता का मूल्य स्वतन्त्र जाति ही जान सकती है। जब तक आर्यजाति स्वतन्त्र रही, प्राण से भी अधिक स्वतन्त्रता को प्यार करती रही और जब उसने खुद दूसरों से दब कर या सांसारिक प्रलोभनों में पड़कर परतन्त्रता की बेड़ी अपने पांवों में डाल ली, तब यह कब हो सकता था कि वह दूसरों की स्वतन्त्रता का मूल्य समझ सकती। जो अन्याय से डरकर बलवानों के सामने सिर झुका देता है, वह कभी निर्बलों के साथ न्याय नहीं कर सकता, जो अपनी स्वतन्त्रता को कौड़ियों के मोल में दूसरों के हाथ बेच देता है, वह दूसरों की स्वतन्त्रता छीनने में कुछ भी आगा पीछा नहीं सोचता। भारतवासी जब अपनी स्वतन्त्रता खो चुके, तब क्रमशः उस परतन्त्रता का प्रभाव उनके धर्म और समाज पर भी पड़ने लगा, क्योंकि किसी परतन्त्र जाति का धर्म या समाज कभी स्वतन्त्र नहीं रह सकता।

स्वतन्त्रता के युग में जिस जाति ने कुछ शताब्दियों में ही अपनी सभ्यता और प्रतिभा का वह चमत्कार दिखाया था कि उपनिषद् जैसी गूढ़ विद्या (जिसका आज संसार के समस्त ईश्वरवादी आदर ही नहीं किन्तु अनुकरण भी कर रहे हैं) यहाँ प्रतिष्ठित होकर कपिल जैसे दार्शनिक, पाणिनि जैसे वैयाकरण और गौतम बुद्ध जैसे संशोधक उत्पन्न हुवे, जिनके मस्तिष्क और हृदय की प्रशंसा आज सारे संसार में हो रही है। परतन्त्र हो कर उसी जाति की ऐसी काया पलट गई कि वह अपनी सारी योग्यता और उस बढ़ी हुई सभ्यता का उपयोग अपने निर्बल अङ्गों को दबाने और सताने में तथा जातिभेद को अप्राकृतिक रूप से बढ़ाने में करने लगी। इसी मध्यवर्ती समय में जिसको हम आर्यों की अवनति का युग कहते हैं, यहाँ बालविवाह, सतीदाह और पर्दे आदि की प्रथायें

प्रचलित हुईं और स्त्रियों को संपूर्ण मनुष्योचित अधिकारों से वञ्चित करके अपनी क्रीड़ा की सामग्री बनाया गया।

अराजकता का समाज पर प्रभाव।

इस समय की सारे देश में फैली हुई अराजकता का भी हिन्दू समाज पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। शहाबुद्दीन ग़ोरी से लेकर मुहम्मद शाह तक अर्थात् दसवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक लगभग नौ सौ वर्ष के लम्बे समय में भारत में जैसी अराजकता और उसके कारण घोर अशान्ति मची रही, उसको आज हम बृटिशशासन की छत्रछाया में शान्ति और स्वच्छन्दता का सुख भोगते हुवे अनुभव करने में भी असमर्थ हो गये हैं। इस बीच में कितने चंगेज़खाँ, तैमूरलंग और नादिरशाह जैसे भयानक लुटेरे इस देश में आये और इन्होंने क्या २ उत्पात और अत्याचार किये। तथा कितने अलाउद्दीन, मुहम्मद शाह और औरंगज़ेब जैसे परधर्मविद्वेषी राजा भारत के सिंहासन पर आसीन हुवे और उनके कारण हिन्दूधर्म और हिन्दूसमाज की कैसी दुर्गति और दुर्दशा हुई, यह किसी इतिहासपाठक से छिपा नहीं है। ऐसे विपत्ति के समय में यदि हिन्दूधर्म की मर्यादा और हिन्दूसमाज की व्यवस्था अक्षुण्ण न रह सकी और उसमें समयानुसार बहुत से परिवर्तन और अपवाद हुवे तो इसके लिए न्यायतः हिन्दूसमाज दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उस आपत्ति के समय में जब कि हम लोगों के प्राण और धर्म दोनों ही संकट में थे, सब से पहले हमको चिन्ता अपनी स्त्रियों और बच्चों की हुई और यह स्वाभाविक बात है, पशुपक्षी भी जब उनपर आक्रमण किया जाता है तो पहले अपनी स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करते हैं। यही कारण है कि उस समय के बने या सङ्कलित हुवे ग्रन्थों में इनकी रक्षा पर ही विशेष बल

दिया गया है और उसके लिए इनकी शिक्षा और स्वतन्त्रता भी (जिन से भारत की प्राचीन सभ्यता पद २ पर आलोकित हो रही है) उनकी दृष्टि में खटकने लगीं।

उस भयानक स्थिति में उनको यह भय हुवा कि कहीं इनकी योग्यता और स्वतन्त्रता ही इनके और हमारे वियोग का कारण न हो। और यह भय उनका निर्मूल न था, क्योंकि अच्छी वस्तु को सभी चाहते हैं। अतएव उसी कराल समय में "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" तथा "अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा च रोहिणी" इत्यादि वाक्यों की सृष्टि हुई, और स्त्रियां भी अन्य भौतिक संपत्तिकी भाँति गोपनीय और रक्षणीय वस्तु मानी जाने लगीं। उस आपत्काल में युवावस्था तक पुत्रियों का कुमारी रहना, विद्यालयों में जाकर विद्याध्ययन करना और स्वतन्त्रता पूर्वक समाज में आना जाना, ये सब बातें इनके संरक्षकों और हितचिन्तकों को अपने स्वार्थ के लिए नहीं, किन्तु इन्हीं के हित के लिए खटकीं। इस दशा में यदि इनकी स्वतन्त्रता छीनी गई, तथा बालविवाह और सती-दाह जैसी दुष्ट प्रथाओं का भी हिन्दुओं को आश्रय लेना पड़ा तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? आश्चर्य और शोक तो हमारी बुद्धि पर है कि हमने तात्कालिक आपद्धर्म को साधारण धर्म मान लिया और अब उन कारणों के न होते हुए भी हम इनको उस गिरी हुई दशा से (जिसमें पड़ी हुई ये न खुद संसार का भार बन रही हैं, किन्तु हमारे जीवन का शूल भी बन रही हैं) उठाने का यत्न नहीं करते और लकीर पर फ़कीर बने बैठे हैं।

यद्यपि इस मध्यकालिक हिन्दूसभ्यता में भी कोई कोई स्मृतिकार ऐसे सहृदय और दयाशील हुवे हैं, जिन्होंने इस दीन अबला जाति पर अपनी दया और सानुभूति का परिचय दिखाया है। अर्थात् हम उन्हीं

ग्रन्थों में जिनसे इनके गलों में छुरी फेरी जाती है, कहीं कहीं पर ऐसे वचन पाते हैं जिनसे इनके घावों की कुछ मरहम पट्टी की गई है। तथापि इन ग्रन्थों की बागडोर जिन लोगों के हाथ में है और जो शास्त्र को भी रूढिवाद का पुंछल्ला बनाना चाहते हैं, वे खींचतान कर और तोड़ मरोड़ कर उनका सामञ्जस्य भी उन निष्ठुर वाक्यों से (जिनमें सहृदयता और सानुभूति का गन्ध भी नहीं है) करने लगते हैं । जहां इसमें उनको सफलता नहीं होती, वहां कलियुग का पचड़ा लगा दिया जाता है । जब उन ग्रन्थों से भी जो उन्हीं के मतानुसार कलिधर्म का निरूपण करते हैं, उनके आक्षेपों का निरसन किया जाता है, तब " यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम् " कह कर लोकाचार की आड़ ली जाती है । और यह उनका अन्तिम शस्त्र है, जिसके सामने सारे शास्त्र, विवेक, विद्या, युक्ति, तर्क, दया, क्षमा, वत्सलता, सहृदयता और सानुभूति ये सब मानुषिक गुण कुण्ठित और विकृत हो जाते हैं ।

एक और परिवर्तन का कारण ।

इतिहास हमको बतला रहा है कि हिन्दूसमाज में इस परिवर्तन का कारण एक दूसरी सभ्यता का संसर्ग भी है, जो मुसलमानों के साथ यहां आई । बौद्धों की सभ्यता यहीं की सभ्यता थी, इस लिए उसके संयोग से इसमें सिवाय कुछ कुछ धार्मिक संशोधनों के विशेष परिवर्तन नहीं हुवा था । पर मुसलमानों की सभ्यता (चाहे पीछे से परस्पर संसर्ग के कारण वह बहुत सी बातों में इस से मिलजुल गई हो) आरम्भ में यहां के लिए एक अजनबी सभ्यता थी और उसने बलपूर्वक यहां अपना अधिकार जमाया था, इसलिए उसके आतङ्क और भय से इस देश की सभ्यता ने कुछ और ही रूप धारण कर लिया । बालविवाह, परदे की प्रथा, सती-

दाह और कहीं कहीं पुत्रीवध जैसी भयानक रीतियां भी उस भय के कारण प्रचलित हो गई। विजेता मुसलमानों की दृष्टि अपने धर्म के आदेशानुसार हिन्दुओं की कुमारी कन्याओं और विधवाओं पर ही विशेष थी। इसलिए उस समय कन्याओं की धर्मरक्षा के लिए बालविवाह जैसी जातिनाशक प्रथा का और विधवाओं की धर्मरक्षा के लिए सतीदाह जैसी अमानुषिक प्रथा का भी हिन्दुओं को आश्रय लेना पड़ा, फिर समय पाकर येही प्रथायें हिन्दुओं के धर्म का अङ्ग बन गईं। पुनः ईश्वरीय प्रेरणा से जब इस देश में न्यायी बृटिशशासन की स्थापना हुई, तब शान्ति और व्यवस्था के प्रतिष्ठित होने से वह भय और आंतङ्क तो जाता रहा पर ये प्रथायें धर्म का सहारा पाकर हिन्दूसमाज में रूढ़ हो गईं। इन में से सतीदाह और पुत्रीवध की महाजघन्य रीतियों को तो हमारी हृदयवती, सरकार ने लोकमत के विरुद्ध होने पर भी क़ानून के ज़ोर से रोक दिया, पर बालविवाह, वृद्धविवाह और बहुविवाह की निर्लज्ज प्रथायें अब तक हिन्दूसमाज का गला मसोस रही हैं। भारत में एक करोड़ के लगभग बालविधवायें इसी तिगड्डे के कारण हिन्दूसमाज का मुख उज्ज्वल कर रही हैं।

बालविधवाओं की शोचनीय दशा।

सन् १९२१ की मनुष्यगणना के अनुसार इस देश में ६० लाख से ऊपर बालविधवायें हैं, यदि इनमें युवती भी शामिल कर दी जांय तो इनकी संख्या १॥ करोड़ से भी ऊपर पहुंचती है। ये हमारी पुत्रियां और भगिनियां इस प्रलोभनमय संसार में जैसा नैराश्यपूर्ण और सन्देहात्मक जीवन व्यतीत कर रही हैं, उसका यहां पर चित्र खींच कर हम पाठकों के हृदय में ठेस लगाना नहीं चाहते। परमेश्वर ने जिनको हृदय दिया है,

वे स्वयं उसका अनुभव करते होंगे। संसार के जिस आमोद और प्रमोद के लिए हमारे देश के पचास २ और साठ २ वर्ष के धर्मधुरीण वृद्ध भी (जिनके मुंह में दांत और पेट में आंत तक नहीं) लार टपकाते हैं, वे दस २ और बारह २ वर्ष की अबोध कन्यायें, जिनके अभी दूध के दांत तक नहीं टूटे, उसके अयोग्य सिद्ध की जाती हैं। जिस काम के वेग को विश्वामित्र और पराशर जैसे तपस्वी महर्षि भी दमन नहीं कर सके उसका मुक़ाबला करने के लिए हमारे वीर सेनापति आप मैदान छोड़कर इन अबलाओं की सेना खड़ी कर रहे हैं।

ब्रह्मचर्य का हमारे पूर्वजों ने बहुत कुछ माहात्म्य वर्णन किया है और आजकल का शिक्षित वर्ग भी उसपर आवश्यकता से अधिक बल देता है। हम भी ब्रह्मचर्य को यदि वह स्वेच्छापूर्वक धारण किया जाय तो स्त्री पुरुष दोनों के लिए अच्छा समझते हैं। परन्तु कोई वस्तु चाहे कैसी ही अच्छी क्यों न हो, बलपूर्वक या दबाव डालकर उसको किसी के गले का हार बनाना हमारी सम्मति में उस वस्तु के महत्व को कम करना है। फिर यह कैसा अन्धेर है कि इस ब्रह्मचर्य की आवश्यकता उन पुरुषों के लिए जो अपनी संसार-यात्रा समाप्त कर चुके हैं, उतनी नहीं समझी जाती, जितनी उन अबोध बालविधवाओं के लिए, जिनकी संसारयात्रा अभी आरम्भ भी नहीं हुई है, मानी जाती है। ६० वर्ष का बूढ़ा खूसट, जिस पर मौत हंस रही है, ब्रह्मचर्य के अयोग्य समझा जाय और १० वर्ष की बालविधवा, जिस पर मौत भी आंसू बहा रही है, आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करने के लिए बाधित की जाय। जिस देश या समाज में यह अन्धेर और अन्याय प्रचलित हो और वह भी धर्म के नाम से, उसकी जितनी अवनति और अधोगति हो थोड़ी है।

अपने जीवन को व्यर्थ समझकर और अपने दुःखों की इस जन्म में निष्कृति न देख कर पहले ये सती हो जाती थीं और इस प्रकार उस प्राण-शोषक रोग से जो आजीवन इन को जलाता था, छुटकारा पाती थीं। संसार में और तो कोई इनको अधिकार न था, ले देकर एक मरने का अधिकार था, सो वह हमारी दयावती सरकार ने छीन लिया। अब सिवाय जन्म भर चिन्तानल में जलने के और इनका क्या काम रह गया? परन्तु यह चिन्तानल चितानल से कहीं अधिक भयंकर है, जैसा कि किसी कवि ने कहा है :—

चिता चिन्ता द्वयोर्मध्ये चिन्ता चैव गरीयसी।
चिता दहति निर्जीवं चिन्ता नित्यं सजीवकम्॥*

इस विषय में सरकार को दोष देना सर्वथा अनुचित है, कोई भी हृदयवती सरकार ऐसे भीषणकाण्ड को, जिसमें जीवित व्यक्ति को निर्दयता के साथ (चाहे उसकी इच्छानुसार ही क्यों न हो) अग्नि में जलाया जावे, अपनी आखों से नहीं देख सकती। इसके अतिरिक्त चाहे दुःखी हो वा सुखी, प्रजाजन की प्राणरक्षा करना सरकार का कर्त्तव्य है। अतएव सरकार ने सतीदाह जैसी अमानुषिक प्रथा को बन्द करके अपने कर्त्तव्य का ही पालन किया है। हां यदि वह इस प्रथा को रोककर विधवाविवाह का क़ानून पास न करती, तब तो उस पर यह दोष लगाया जा सकता था कि क्या उसने इनको जन्मभर चिन्तानल में जलाने के लिए ही चितानल से बचाया था? सतीदाह की प्रथा को बन्द करने के बाद यह कब सम्भव था कि हमारी दूरदर्शिनी सरकार अपने इस आवश्यक कर्त्तव्य

* चिता और चिन्ता इन दोनों में चिन्ता ही बढ़कर है, क्योंकि चिता मृतक को जलाती है, परन्तु चिन्ता नित्य जीवित को जलाती है।

की उपेक्षा करती । अतएव उसने लोकमत के विरुद्ध होने पर भी सन् १८५६ ई० में विधवाविवाह एक्ट १५ पास कर दिया । सरकार इस विषय में पूर्णतया अपना कर्त्तव्य पालन कर चुकी । क़ानून के होते हुवे भी विधवाओं की वर्त्तमान दशा का दायित्व हम पर है ।

विधवाओं के प्रति शिक्षितों का कर्त्तव्य ।

अब प्रश्न यह होता है कि जो हिन्दू स्वभाव से ही दयाशील हैं, जिनसे मनुष्य तो मनुष्य, पशुपक्षियों का भी कष्ट देखा नहीं जाता, उनका हृदय अपनी पुत्रियों और भगिनियों के इस अथाह दुःख को देख कर भी क्यों नहीं पसीजता, और इसके महाअनर्थकारी भयानक परिणामों को जान बूझकर भी वे क्यों उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं ?

यह बात नहीं है कि हिन्दुओं में ऐसे सहृदय मनुष्य नहीं हुवे या नहीं हैं, जिनकी दृष्टि में वे अमानुषिक अत्याचार जो विधवाओं पर किये जाते हैं, न खटकते हों या जो वैधव्य के रोमाञ्चकारी परिणामों को अनुभव न करते हों । भारत के प्रत्येक प्रान्त में चोटी के ऐसे हिन्दू विद्वान् हुवे हैं और हैं, जिन्होंने विधवाविवाह के अनुकूल न केवल अपनी सम्मति प्रकट की है, किन्तु इसके प्रचार के लिए यावज्जीवन अनवरत उद्योग और अनथक आन्दोलन भी किया है । स्वनामधन्य स्वर्गीय श्रीयुत पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को कौन नहीं जानता, जिन्होंने कट्टर हिन्दू होते हुए विधवाविवाह को हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुकूल सिद्ध किया और आजीवन इसका प्रचार करते रहे । इनके आगे पीछे हिन्दूसमाज में और भी अनेक गण्य मान्य पुरुष ऐसे हुवे हैं और हैं, जिन्होंने विधवाविवाह की न केवल वाचिक पुष्टि की है, किन्तु इसका उपयोग करने में भी बहुत कुछ

पुरुषार्थ किया है । जिनमें से कुछ प्रसिद्ध पुरुषों का परिचय पाठकों को इस ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में मिलेगा ।

यह सब कुछ होते हुवे भी विधवाविवाह का प्रचार इस देश में बहुत कम हुआ है, साधारण हिन्दू अब तक इसके नाम से चौंकते हैं । इसका कारण यह नहीं है कि लोग विधवाविवाह को धर्मविरुद्ध समझते हैं । धर्मशास्त्र के रहस्य को समझने वाले हम में बहुत ही कम मनुष्य निकलेंगे प्रत्येक समाज में अधिकतर संख्या ऐसे ही मनुष्यों की होती है, जो प्रायः प्रचलित लोकाचार का अनुसरण करते हैं, न वे धर्मशास्त्र को जानते हैं और न उनको अपने विवेक पर भरोसा होता है । अन्धे की लाठी के समान लोकाचार ही एकमात्र उनका आधार होता है । जिस समाज में वे रहते हैं और जिन लोगों से रात दिन उनको काम पड़ता है, उनकी रुचि और मति के विरुद्ध किसी काम के करने का उनमें साहस ही नहीं होता । अतएव विधवाविवाह के अप्रचार का दोष ऐसे लोगों पर नहीं लगाया जा सकता । इस दोष के भागी न्यायतः वे लोग हैं, जो सभाओं में और समाचारपत्रों में विधवाओं की करुणाजनक दशा का हृदयद्रावक चित्र खींच कर आठ २ आँसू रोते और रुलाते हैं और बात २ में न्याय, विवेक और नैतिक बल की दुहाई देते हैं, पर जब परीक्षा का समय आता है तब वे उन्हीं लोगों से डर कर जिनको पाषाणहृदय कहते थे, चट कुमारी कन्या के साथ अपना दूसरा विवाह कर लेते हैं । जिस देश के शिक्षित और समर्थ पुरुष नैतिकबल में इतने गिरे हुवे हों, वहाँ सर्वसाधारण से क्या आशा की जा सकती है ?

सर्वसाधारण सर्वत्र अनुकरणशील होते हैं, उनकी दृष्टि सदा उदाहरण पर होती है, वे यह नहीं देखते कि हमें कहां जाना है और क्यों जाना है । लोगों को जाता हुवा देख कर वे भी उनके पीछे हो लेते हैं । कोई कैसा

ही अच्छा काम हो, पर वे उसके अगुआ बनना नहीं चाहते उनकी यह उक्ति प्रसिद्ध है ।

न गणस्याग्रतो गच्छेत्सिद्धे कार्ये समं फलम् ।
यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते ॥ (१)

हममें हज़ारों माता पिता ऐसे होंगे जो अपनी विधवा पुत्रियों को देख कर मन ही मन में कुढ़ते हैं और बिरादरी को गालियां सुनाते हैं, पर उनमें इतना साहस और नैतिक बल कहां जो वे मैदान में आगे बढ़ें और दूसरों के लिए उदाहरण बन कर दिखावें । वे हर बात में दूसरों की ओर देखते हैं और चाहते हैं कि हम पर किसी की उङ्गली न उठे । जब वे बुरे से बुरे उदाहरण का भी अनुकरण करने लगते हैं, तब यह कब सम्भव है कि इन पर अच्छे उदाहरणों का प्रभाव न पड़े ? उनके लिए अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करना यह काम शिक्षित और समर्थ पुरुषों का है । जैसा कि भगवान् गीता में कहते हैं :—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ (२)

प्रत्येक देश में शिक्षित पुरुष ही समाज के लिए आदर्श बने हैं, उन्होंने ही अपनी दृढ़ता, सहिष्णुता और आत्मत्याग से गिरती हुई जातियों को ऊपर उठाया है । पर भारत में प्रथम तो शिक्षितों की संख्या

---

(१) किसी समूह का अगुआ नहीं बनना चाहिए, क्योंकि कार्य सिद्ध हुवा तो सब को समान फल होगा, किन्तु काम बिगड़ने पर अगुआ मारा जायगा ।

(२) श्रेष्ठ पुरुष जो २ आचरण करते हैं और जिसको प्रमाण मानते हैं साधारण जन उसी का अनुसरण करते हैं ।

ही बहुत कम है। जो इने गिने शिक्षित हैं, वे वाचिक ज्ञान में तो समाज के स्वयम्भू नेता बनने के लिए तय्यार हैं, पर जब काम करने का समय आता है, तब वे अपने रूढ़िवादी समाज का मुंह ताकते हैं। हम ऐसे कई पुरुषों को जानते हैं कि जो प्रसङ्ग आने पर विधवाविवाह का समर्थन ही नहीं करते थे, किन्तु आवेश में आकर इसके विपक्षियों को खरी खोटी भी सुना डालते थे। पर जब उनको पहली स्त्री का वियोग हुवा तब उन्होंने उन्हीं लोगों से डर कर जिनको बुरा भला कहते थे, चट कुमारी कन्या के साथ विवाह कर लिया। ऐसे बनावटी मित्र समाज को जितनी हानि पहुंचाते हैं, उतनी उसके प्रकट शत्रु नहीं पहुंचा सकते।

हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि जो अपने समाज को प्रसन्न रखना चाहते हैं, या कमसे कम अपने ऊपर उङ्गली उठवाना नहीं चाहते, वे अपने समाज की इच्छा के विरुद्ध अपने को इस कठिन परीक्षा की जोखम में डालें। यदि किसी विधवा का पाणिग्रहण करने में उनकी सामाजिक मानमर्यादा भङ्ग होती है तो वे ऐसा न करें और न कोई ऐसा करने के लिए उनको बाधित कर सकता है। परन्तु उनको इसका अधिकार कब है कि वे उन कुमारी कन्याओं का जो उनकी पुत्री और पौत्री के समान, हैं, अपनी पत्नी बनाने का दुःसाहस करें। यदि समाज उनको इस अनर्थ के करने से नहीं रोकता तो कम से कम मनुष्यता के नाते इतना तो उनको अपने विवेक से काम लेना चाहिए कि जिस आधार पर उनकी विधवा बहनें अपना विवाह का स्वत्व खो चुकी हैं, उसी आधार पर वे भी अपना वैवाहिक स्वत्व गँवा चुके हैं। फिर उनकी यह अनधिकार चेष्टा, चाहे उनके पक्षपाती समाज की दृष्टि में क्षन्तव्य हो, पर उस रुद्र और यम के कोपा-

नल से, जिसमें पड़ कर सैकड़ों अन्यायी और अत्याचारी राज्य तक नष्ट भ्रष्ट हो गए, वे अपने को कैसे बचा सकेंगे ?

लेखक का वक्तव्य ।

अस्तु, अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं। स्वर्गीय पं० विद्यासागर के समय से लेकर आज तक विधवाविवाह पर बहुत कुछ आन्दोलन और शास्त्रार्थ हो चुके हैं, जिसका परिणाम यह हुवा है कि भारत के शिक्षित-वर्ग में (चाहे वह किसी धर्म का अनुयायी हो वा न हो) अब इसका कोई विरोध नहीं करता। यहां तक कि वे लोग भी जो धार्मिक दृष्टि से इस को अच्छा नहीं समझते, नैतिक और सामाजिक दृष्टि से अब इसकी उपयोगिता को स्वीकार करते जाते हैं। द्विजों में अब इसका प्रचार भी बढ़ता जा रहा है। भारत का कोई ऐसा प्रान्त नहीं, जिसमें प्रतिवर्ष सैकड़ों की संख्या में विधवाविवाह न होते हों। पंजाब की सिक्ख और खत्री जातियों ने तो अपनी जातीय सभाओं में बहुमत से इसको स्वीकार कर लिया है। अन्य जातियों में भी अब कोई शिक्षित और समझदार लोग इसका विरोध नहीं करते, किन्तु अवसर पड़ने पर अपनी आन्तरिक सहानुभूति प्रकट करते हैं। विरोध करने वाले प्रायः ऐसे ही लोग हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का गला काटने में पाप नहीं समझते या जो स्वयं अपने विवेक से काम न लेकर दूसरों के हाथ का औजार बने हुवे हैं।

यद्यपि इस कहावत के अनुसार कि "आवश्यकता आविष्कार की जननी है" यह प्रस्ताव स्वयमेव लोगों के हृदय में अपना उचित स्थान बना रहा है और उनकी सहानुभूति अपनी ओर खींच रहा है। तथापि इसके विरोधियों ने धर्मशास्त्र या लोकाचार की आड़ लेकर जो भ्रान्ति

सर्वसाधारण में फैलाई हुई है और जिस प्रकार खींचतान कर वे अर्थ का अनर्थ करते हैं। तथा उनकी ओर से जो २ निर्मूल आक्षेप और निःसार कल्पनायें इसके विरुद्ध की जाती हैं, उनका निरसन करने के लिए अब तक हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी में कोई ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुवा, जिसमें कम से कम विवादास्पद विषयों की संक्षेप से ही आलोचना की गई हो। विद्यासागर ने जो इस विषय की विस्तृत और पाण्डित्यपूर्ण आलोचना की है, वह बंगभाषा में है, जिससे हिन्दीभाषी कुछ लाभ नहीं उठा सकते। उसी के आधार पर अंगरेज़ी तथा अन्य भाषाओं में भी कई निबन्ध और पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, पर खेद का स्थान है कि हिन्दी भाषा का साहित्य (जो हमारी राष्ट्रभाषा बननेवाली है) अब तक ऐसे आवश्यक विषय से शून्य है। इस अभाव को किसी अंश तक दूर करने के लिए ही मेरा यह प्रयास और साहस है कि मैं इस पुस्तक को पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूं।

ऐसी पुस्तक के संग्रह करने में किसी बहुश्रुत लेखक की आवश्यकता थी, जो अपने दीर्घकालिक अनुभव और अनुसन्धान से इसको सर्वाङ्ग-संपन्न बनाने में समर्थ होता, पर जब हिन्दी के दौर्भाग्य से इसमें और भाषाओं की अपेक्षा विद्वान् लेखक ही कम हैं, जो हैं भी वे धार्मिक और सामाजिक विषयों को विवादास्पद समझ कर इनसे उदासीन रहते हैं। इस दशा में "अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः" इस जनश्रुति के अनुसार यदि मुझ जैसा अल्पश्रुत लेखक ऐसे गहन विषय में लेखनी उठाने का साहस करता है, तो उसका यह अपराध महानुभावों की दृष्टि में क्षम्य होना चाहिये। आशा है कि विवेकशील पाठक लेखक की त्रुटियों पर ध्यान न देकर उसके भाव और पुस्तक के उद्देश को अपना लक्ष्य बनायेंगे।

हिन्दू बालविधवाओं का उस शोचनीय दशा से, जिसमें पड़ी हुई वे न केवल स्वयं नैराश्यमय और सन्देहात्मक जीवन व्यतीत कर रही हैं, किन्तु अपने समाज और सम्बन्धियों के जीवन का शूल भी बन रही हैं, उद्धार करना और उनके जीवन को सार्थक और समाज के लिए उपयोगी बनाना, बस यही इस पुस्तक का उद्देश है। यदि हिन्दू दया का स्रोत जो पशुपक्षियों के लिए भी बन्द नहीं है, कुछ भी इनके मानसताप को शान्त करेगा और इनके शुष्क हृदयक्षेत्रों को अपने स्नेहजल से सींच कर उनमें आशा के अंकुर उत्पन्न करेगा तो मैं अपने को सफल मनोरथ समझूँगा।

मैंने इस पुस्तक को चार अध्यायों में विभक्त किया है, अन्त में एक परिशिष्ट भी दिया गया है, जिनके विषयों की सूची अनुक्रमणिका में दी गई है। यहां पर सधन्यवाद उन ग्रन्थों की सूची दी जाती है, जिनके प्रमाण इस पुस्तक में यथास्थान संग्रहीत हुवे हैं या जिनसे इसकी रचना में अपेक्षित सहायता ली गई है, जिसके लिए मैं उनके प्रणेताओं और प्रकाशकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करता हूं।

प्रयाग। बदरीदत्त जोशी

ग्रन्थ-सूची।

जिनसे इस पुस्तक के प्रणयन में सहायता ली गई है।

संख्या	नाम	प्रणेता या भाष्यकार
१	ऋग्वेद	सायणाचार्य
२	अथर्ववेद	,,
३	ऐतरेय ब्राह्मण	,,
४	तैत्तिरीय संहिता	,,
५	शुक्ल यजुर्वेद	महीधराचार्य
६	बृहदारण्यक उप०	शंकराचार्य
७	भगवद्गीता	,,
८	पूर्वमीमांसा	जैमिनि
९	अष्टाध्यायी	पाणिनि
१०	महाभाष्य	पतञ्जलि
११	सिद्धान्तकौमुदी	भट्टोजिदीक्षित
१२	निरुक्त	यास्काचार्य
१३	मनुसंहिता	भाष्यषट्क
१४	नारदसंहिता	नारद
१५	वसिष्ठसंहिता	वसिष्ठ
१६	याज्ञवल्क्यस्मृति	मिताक्षरा
१७	पराशरस्मृति	माधवाचार्य

संख्या	नाम ग्रन्थ	प्रणेता या भाष्यकार
१८	चतुर्विंशतिस्मृतिव्याख्या	भट्टोजिदीक्षित
१९	स्मृतितत्व	रघुनन्दन भट्टाचार्य
२०	वीरमित्रोदय	मित्र मिश्र
२१	वृहन्नारदीयपुराण	द्वैपायन
२२	अग्निपुराण	,,
२३	ब्रह्मपुराण	,,
२४	पद्मपुराण	,,
२५	महाभारत आदिपर्व	नीलकण्ठ
२६	,, वनपर्व	,,
२७	,, भीष्मपर्व	,,
२८	,, शान्तिपर्व	,,
२९	महानिर्वाणतन्त्र	तन्त्रशास्त्र
३०	सारसंग्रह	मन्त्रशास्त्र
३१	श्रीमद्भागवत	श्रीधर
३२	व्यवहारमयूख	नीलकण्ठ भट्ट
३३	विवादचन्द्र	मिश्रु मिश्र
३४	विवादचिन्तामणि	वाचस्पति मिश्र
३५	केशव वैजयन्ती	नन्द पण्डित
३६	शिवार्चन चन्द्रिका	श्रीनिवास
३७	शङ्करदिग्विजय	पद्यात्मक
३८	अमरकोश	अमरसिंह
३९	रघुवंश	कालिदास
४०	कुमारसम्भव	,,

संख्या	नाम ग्रंथ	प्रणेता या भाष्यकार
४१	मालविकाग्निमित्र	कालिदास
४२	अभिज्ञान शाकुन्तल	,,
४३	कथा सरित्सागर	सोमदेव
४४	मृच्छकटिकनाटक	शूद्रक
४५	भर्तृहरिशतक	भर्तृहरि
४६	हितोपदेश	विष्णुशर्मा
४७	राजतरंगिणी	कल्हणमिश्र
४८	चाणक्यनीति	चाणक्य
४९	भामिनीविलास	पं० जगन्नाथ
५०	जरनल जुलाई १८३५	एशियाटिक सो० बंगाल
५१	,, नवम्बर १८३६	,,
५२	टेगोर ला लेक्चर्स १८७८	सर गुरुदास बनर्जी
५३	विधवाविवाह एक्ट १५ सन् १८५६	भा० गवर्नमेंट
५४	सत्यार्थप्रकाश	स्वामी दयानन्द
५५	सत्यामृतप्रवाह	पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी
५६	बंकिम निबन्धावली	बंकिमचन्द्र चटर्जी
५७	भारत की प्राचीन सभ्यता	सर रमेशचन्द्र दत्त
५८	भारतीय प्रतिनिधि	सर टी० मुथु स्वामी आयर
५९	सनातनधर्म	डाक्टर मुकुन्दलाल
६०	विधवाविवाह	डाक्टर मुरारीलाल
६१	टाड राजस्थान का सार	बा० शिवव्रतलाल
६२	विधवा-विवाह-विवरण	पं० राधाचरण गोस्वामी
६३	विधवा पुनःसंस्कार	पं० शंकरलाल श्रोत्रिय

संख्या	नाम ग्रंथ	प्रणेता या भाष्यकार
६४	गोपाल सिद्धान्त	गोपाल शास्त्री
६५	देशदर्शन	ठाकुर शिवनन्दनसिंह
६६	चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप	प्रोफेसर मैक्समूलर
६७	मेन आन हिन्दू ला	मिस्टर जानदीमेन

विधवोद्वाहमीमांसा।

पहला अध्याय।

——:⊙:*:⊙:——
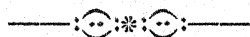
धर्मशास्त्र और विधवाविवाह।

समाज और धर्मशास्त्र।

पूर्व इसके कि विधवाविवाह की सिद्धि में धर्मशास्त्र के प्रमाणों का संग्रह किया जावे, यह जतला देना आवश्यक है कि धर्मशास्त्र किसको कहते हैं और उसका समाज से क्या सम्बन्ध है? प्रत्येक जाति का प्राचीन इतिहास देखने से पता लगता है कि उसमें जब समाज संगठन की योग्यता उत्पन्न हुई तभी शास्त्र का भी प्रादुर्भाव हुआ जब बहुत से मनुष्य मिलकर कोई समाज बनाते हैं, तब परस्पर व्यवहार चलाने के लिये उनको किन्हीं नियमों की आवश्यकता होती है, ये नियम ही विधि निषेध के रूप में धर्मशास्त्र बन जाते हैं। जो कि समय की गति उत्तरोत्तर आगे की ओर बढ़ रही है, तथा परिणामवाद विकास के सिद्धान्त को सदा से ही प्रश्रय देता चला आया है, अतएव किसी भी समाज की दशा सदा एक सी नहीं रहती। उसमें यथासमय बहुत से परिवर्तन और कभी कभी तो क्रान्ति होती रहती है, अतः उन नियमों में भी अपवाद और संशोधन होते रहते हैं। यही कारण है कि हम भिन्न भिन्न शास्त्रों में ही नहीं, किन्तु एक ही शास्त्र

में यहां तक कि एक ही विषय में परस्पर विरुद्ध दो मत पाते हैं।

उदाहरणार्थ आप मनुस्मृति को ही ले लीजिये, उसके नवें अध्याय में पहले तो " देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रियासम्यङ् नियुक्तया " इत्यादि वाक्यों में नियोग का विधान किया गया है और वे नियम भी दिये गये हैं, जिनका नियोग करने वाले स्त्री पुरुष पालन करें। इसी के कुछ आगे चल कर वह सारी इमारत जो अभी चिनी जा रही थी, एकदम ढादी गई है और उसी नियोग को पशुधर्म कह कर निन्दा की गई है। इसी प्रकार तीसरे व पाँचवें अध्याय में श्राद्ध और यज्ञादि के लिये ही हिंसा का विधान नहीं किया गया, किन्तु युक्ति और तर्क से भी मांसभक्षण की उपयुक्तता सिद्ध की गई है। यथाः—

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः॥
नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च॥ (१)

(मनु ५। २९–३०)

इसी के कुछ आगे चलकर पद्य ४९ से ५५ तक सब प्रकार के मांसभक्षण और हिंसा का निषेध किया गया है। ऐसे ही परस्परविरुद्ध प्रसङ्ग अन्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं।

---

(१) चरों के अचर, दान्त वालों के बे दान्त, हाथवालों के निहत्थे और शूरों के कायर अन्न है, २९ प्रति दिन भक्षक भक्ष्य को भक्षण करता हुवा दोषी नहीं होता, क्योंकि विधाता ने ही भक्ष्य और भक्षक दोनों को बनाया है ॥ ३० ॥

इस से सिद्ध है कि जब जो रीति समाज में प्रचलित हुई, तब उस समय के ग्रन्थों में उसका विधान किया गया, जब समाज की सभ्यता का परिवर्तन हुआ और उसमें वह निन्दनीय समझी जाने लगी, तब उसका निषेध भी अपवाद रूप से उस विधि के साथ जोड़ दिया गया। यह उन लोगों की ईमानदारी है कि उन्होंने अपने सम्मत पक्ष के ही समान असम्मत पक्ष को भी उन ग्रन्थों में सुरक्षित रक्खा, प्रक्षिप्त कह कर निकाल नहीं दिया। अस्तु, जब मनुष्यों की मति और रुचि भिन्न भिन्न हैं, तब उनके बनाये ग्रन्थों में और वह भी भिन्न भिन्न समय और परिस्थितियों में यदि सामञ्जस्य और अविरोध न हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य तो हम लोगों की बुद्धि पर है, जो धर्मशास्त्र से व्यवस्था लेने में देश, काल और पात्र का कुछ भी विचार नहीं करते और उन नियमों को जो किसी विशेष समय या परिस्थिति से सम्बन्ध रखते हैं, सब दशाओं में समाज के लिए लागू बनाना चाहते हैं।

देश, काल और पात्र।

यद्यपि सामान्य रीति पर प्रत्येक धर्मशास्त्र में कर्तव्य का विधान और अकर्तव्य का निषेध होता है, तथापि देश, काल और पात्र के भेद से कर्तव्याकर्तव्य में अन्तर पड़ता रहता है। जो काम किसी देश, काल और स्थिति विशेष में कर्तव्य हैं, वे ही भिन्न देश, समय और परिस्थिति में अकर्तव्य हो जाते हैं। जो उष्णोपचार शीत कटिबन्ध में आवश्यक हैं, वे ही उष्ण कटिबन्ध में अनावश्यक हो जाते हैं। जो भोजन भूख और नीरोगिता की दशा में हितकारी है, वही अजीर्ण या ज्वर होने पर दुःखदायी हो जाता है।

जिस दान के दीनता और असमर्थता के कारण शूद्र और अन्त्यज भी पात्र हो सकते हैं, उसी दान के सम्पन्न और समर्थ होने से ब्राह्मण भी अपात्र हैं।

जो काम एक चतुर वैद्य का है, वही बुद्धिमान् धर्मशास्त्रज्ञ का भी है। वह वैद्य जिसको रोगी की शारीरिक दशा का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हैं और न वह उसके जानने का यत्न ही करता है। चाहे उसने आयुर्वेद शास्त्र को मथ डाला हो, कभी रोगी की चिकित्सा में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार जो धर्मशास्त्रज्ञ समाज की वर्तमान दशा और समय की आवश्यकताओं पर ध्यान न देकर केवल शास्त्रीय सन्दिग्ध और परस्परविरुद्ध प्रमाणों के आधार पर किसी विषय की व्यवस्था देने लगे, तो ऐसी व्यवस्था न केवल लोक में अमान्य और अनाचर्य होती है, किन्तु शास्त्रीय गौरव को भी हानि पहुँचाती है। हमारे इस कथन की पुष्टि बृहस्पति के निम्नलिखित वचन से भी होती है:—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥ (१)

(स्मृतितत्वधृत बृहस्पतिवचन)

अमुक बात शास्त्र में लिखी है, केवल इस आधार पर जो धर्म का निर्णय करते हैं और यह नहीं देखते कि किसने, क्यों और किस दशा में लिखी है? वे धर्म के गूढ़ तत्व को नहीं जान सकते। धर्म का तत्व जानने के लिए देश, काल और

(१) केवल शास्त्र का आश्रय लेकर धर्मका निर्णय नहीं करना चाहिए युक्तिहीन विचार में धर्म की हानि होती है।

सामाजिक परिस्थिति का ज्ञान होना वैसा ही आवश्यक है, जैसा रोग का निदान करने के लिए रोगी की शारीरिक और मानसिक परिस्थिति का। धर्म की इसी दुरूहता का अनुभव करके मनुस्मृति में इसकी चार कसौटी बतलाई गई हैं:—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्यच प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥(१)

धर्म के निर्णय में यदि केवल श्रुति और स्मृति ही पर्याप्त होतीं तो सदाचार और स्वात्मप्रत्यय को उसके लिए आवश्यक न बताया जाता, इन चारों में भी स्वात्मप्रत्यय (विवेक) सब से मुख्य है और इसीलिए वह सब के अन्त में रक्खा गया है। बिना विवेक की सहायता के न तो हम श्रुति और स्मृति से ही लाभ उठा सकते हैं, न सदाचार को ही अनाचार या अत्याचार या मिथ्याचार से अलग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त जब शास्त्रकारों ने स्मृति और पुराणों में ही नहीं, किन्तु श्रुति में भी द्वैध का होना माना है तो इस दशा में यदि विवेक से काम न लिया जाय तो शास्त्रों के विवादग्रस्त प्रमाणों से धर्म का निर्णय कैसे हो सकता है? एक जिसको धर्म कहता है, दूसरा उसी को अधर्म बतलाता है। इसी असामञ्जस्य को लक्ष्य में रखकर महाभारत के वनपर्व में धर्मात्मा युधिष्ठिर ने यक्षकृत प्रश्न के उत्तर में यह वचन कहा है:—

वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजना येन गताः स पन्थाः॥(२)

---

(१) १ श्रुति, २ स्मृति, ३ सदाचार, ४ आत्मप्रिय, ये चार धर्म के लक्षण हैं, जिनसे धर्म का परिचय होता है।

(२) वेद भिन्न २ हैं, स्मृति भी अनेक हैं, ऋषि भी अनेक हुये,

इस पद्य में सन्दिग्धावस्था में सदाचार को प्रधान माना गया है, कहीं कहीं ऐसी अवस्था में विवेक को प्रधानता दी गई है। जैसा कि अज्ञातकुलशीला शकुन्तला का पाणिग्रहण कराते हुवे कविवर कालिदास अभिज्ञानशाकुन्तल में राजा दुष्यन्त से कहलाते हैं :—

सतांहि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः ।(१)

निदान जब पूर्वकाल में भी जबकि हेतुवाद अत्यन्त ही अप्रौढ़ दशा में था, हमारे देश कालज्ञ पूर्वजों ने धर्म के निर्णय में तर्क, युक्ति और विवेक की उपेक्षा नहीं की, तब आजकल इस प्रकाश के युग में जबकि रूढ़िवाद प्रौढ़िवाद के अञ्चल में मुंह छिपाना चाहता है, केवल शास्त्र का आश्रय लेकर और वह भी अपने अभिमत अंश का, धर्म का निर्णय करने में कहां तक सफलता प्राप्त होसकती है? यह बात अब हमारे रूढ़िवादी भाइयों को भी सूझने लगी है। यही कारण है कि अब वे शास्त्रवचनों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए युक्ति और विज्ञान का भी आश्रय लेने लगे हैं, चाहे इसमें उनको सफलता हो वा न हो।

उत्सर्ग और अपवाद।

सब शास्त्रों में दोप्र कार के नियम होते हैं, एक उत्सर्ग, दूसरे अपवाद। इन्हीं को सामान्य और विशेष भी कहते हैं। उत्सर्ग वे नियम हैं, जो सामान्य धर्म का प्रतिपादन करते हैं।

किसके वचन को प्रमाण माना जाय धर्मका तत्व गुहा में रक्खा हुवा है महापुरुष जिसमार्ग से गये हों, वही सच्चा मार्ग है।

(१) सत्पुरुषों को सन्देहात्मक वस्तुओं में अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही प्रमाण है।

जैसे-अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य्य। अपवाद वे नियम हैं, जो विशेष धर्म के प्रतिपादक हैं। जैसे—यज्ञ में वा युद्ध में हिंसा करना, परहित के लिए असत्य बोलना और ऋतुकाल में स्वस्त्री के साथ मैथुन करना। अब यदि कोई अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य का साधारण धर्म मानकर अपवाद के स्थानों में भी इनकी कर्त्तव्यता सिद्ध करने लगे तो कोई बुद्धिमान् उसको धर्मशास्त्रज्ञ न कहेगा। क्योंकि उत्सर्ग की प्रवृत्ति अपवाद को छोड़कर ही होती है। अर्थात् अपवाद तो उत्सर्ग को रोक सकता है, पर उत्सर्ग अपवाद के विषय में प्रवृत्त नहीं होता।

अब प्रकृत यह है कि पुनर्विवाह चाहे पुरुष का हो या स्त्री का, आपद्धर्म होने से अपवाद का विषय है। क्योंकि पति और पत्नी की विद्यमानता और समर्थता में कोई इसका विधान नहीं करता, किन्तु इनकी अयोग्यता और एक दूसरे के वियोग में ही विवाह की आवश्यकता होती है। उसके लिए भी कोई शास्त्र या कानून इनको बाधित नहीं करता, किन्तु इनकी इच्छा पर निर्भर है। यदि इस दशा में ये विवाह करना चाहें, तो इनके लिए समाज में कोई रुकावट न होनी चाहिए। विशेष कर उस समाज में जो बिना विवाह सम्बन्ध के स्त्री पुरुष समागम को पाप और व्यभिचार मानता हो, यह रोक कभी न होनी चाहिए। यदि पुरुषों के लिए स्त्री की अयोग्यता या उसके वियोग में पुनर्विवाह वैध है, तो किसी शास्त्र या क़ानून में यह शक्ति नहीं है कि वह स्त्रियों के लिए इन्हीं दशाओं में पुनर्विवाह को अवैध ठहरा सके। विवाह की जितनी आवश्यकता जिन कारणों से पुरुषों को है, उससे रत्ती भर भी कम स्त्रियों को नहीं और हिन्दू समाज में तो जिसमें

बिन व्याही स्त्रियाँ (चाहे वे कैसी ही सुशीला और सच्चरित्रा क्यों न हों) शंका की दृष्टि से देखी जाती हैं, यह आवश्यकता न्यायतः और भी बढ़ जाती है।

कैसे आश्चर्य्य की बात है कि जो हिन्दू कन्याओं को दीर्घ-काल तक कुमारी रखना अच्छा नहीं समझते और इसलिए उनका समय से पहले विवाह कर देते हैं, वे ही उनको आजन्म विधवा बनाये रखने में कुछ भी आगा पीछा नहीं सोचते, यह उनकी कितनी भारी भूल है। दूसरा आश्चर्य्य यह है कि शास्त्र और लोकाचार की आड़ लेकर पचास पचास और साठ साठ वर्ष के बूढ़े बाबा अपने लिए पुनर्विवाह को वैध ठहराते हैं, पर आठ आठ या दस दस वर्ष की अबोध कन्याओं के लिए उसे अवैध कहते उन्हें लज्जा नहीं आती।

विधि और निषेध।

हमारा यह पक्ष नहीं है कि शास्त्रों में विधवाविवाह के निषेधक वाक्य नहीं हैं। उनमें निषेधक वाक्यों का होना ही इस बात को सिद्ध करता है कि पहले यहाँ विधवाविवाह की रीति प्रचलित थी। अन्यथा "प्राप्तौ सत्यां निषेधः" इस नियम के अनुसार बिना प्राप्ति के निषेध का होना ही असम्भव था। हमारा कथन केवल यह है कि जहाँ शास्त्रों में स्त्रीजाति की निन्दा और विधवाविवाह के निषेधक वाक्य मौजूद हैं, वहां उनमें ऐसे वाक्य भी मिलते हैं, जिनमें विधवाविवाह की पुष्टि और स्त्रीजाति के प्रति आदर का भाव दिखाया गया है। यह कहां का न्याय है कि निन्दा और निषेध को तो जो किसी विशेष परिस्थिति से सम्बन्ध रखते हैं, हम वैध और प्रामाणिक सिद्ध करने की चेष्टा करें, पर प्रशंसा और

विधि को जो हमारे पूर्वजों की उदारता और सहृदयता का परिचय देती है, हम अवैध और शास्त्रविरुद्ध सिद्ध करने की कुचेष्टा करें। समय और समाज की वर्त्तमान दशा को देखकर होना तो यह चाहिए था कि हम उन असद्भावों की जो स्त्रियों के प्रति हमारे शास्त्रों में कहीं कहीं प्रकट किए गए हैं, उपेक्षा करते और सद्भावों पर जो उन में अप्राप्य नहीं हैं, विशेष ध्यान देते। पर ऐसा तो तब करते, जब कि भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार बुराई में से भी भलाई ग्रहण करने की योग्यता हम में होती। हम तो अपनी बड़ाई इसी में समझते हैं कि भलाई में से भी बुराई ढूंढ कर निकालें।

कहां हमारे प्रातःस्मरणीय पूर्वजों की वह कारुणिकता और उदारता कि उन्होंने किसी किसी ग्रन्थ में विधवाविवाह का आंशिक निषेध होते हुवे भी समय की गति और समाज की स्थिति को देख कर इस का स्पष्ट रीति पर विधान करके अपने उत्कृष्ट नैतिक बल का परिचय दिया और कहां हमारी यह संकीर्णता और निष्ठुरता कि अनेक प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में इसका स्पष्ट विधान होते हुवे भी, हम इसको शास्त्रविरुद्ध और अवैध सिद्ध करने में अपने पाण्डित्य का दुरुपयोग करते हैं।

क्या सब बातों में हम शास्त्र की आज्ञा का पालन करते हैं!

थोड़ी देर के लिए हम विधवाविवाह को सर्वथा शास्त्र विरुद्ध भी मान लेवैं, तब भी हम इस के विरोधियों से पूंछ सकते हैं कि वे अपने हृदय पर हाथ रखकर बतलावें कि क्या वे सब बातों में शास्त्र की आज्ञा का पालन करते हैं? यदि

धर्मशास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध उन्होंने विदेशयात्रा, सेवा-वृत्ति, शूद्रों से विद्याध्ययन और सब जातियों का परस्पर संसर्ग आदि अनेक बातें स्वीकार करली हैं और करते जाते हैं, तो फिर एक विधवाविवाह ने ही ऐसा क्या अपराध किया है जिस के विरुद्ध शास्त्र की दुहाई मचाई जाती है? क्या वे बतला सकते हैं कि चारों वर्ण और आश्रमों के जो धर्म शास्त्रों में बतलाये गये हैं, आज हिन्दू समाज में उनका यथाविधि पालन होरहा है? जब छोटी छोटी और तुच्छ बातों में जिनमें यदि हम शास्त्र की आज्ञा का पालन करते तो हमारे देश या समाज को कुछ हानि की संभावना न थी, हमने शास्त्र को उठाकर ताक़ में धर दिया और समयानुकूल आचरण करने लगे, किन्तु समय से भी आगे बढ़ने की चेष्टा करने लगे। तब विधवाविवाह जैसे आवश्यक और उपयोगी विषय को, जिसके अप्रचार से आज हिन्दू समाज में हज़ारों पाप और अनर्थ होरहे हैं और लाखों निरपराध बालविधवाओं का जीवन नष्ट होरहा है, शास्त्र की पूंछ बनाना, क्या यही शास्त्र की भक्ति है? जहां बलवानों के स्वार्थ से शास्त्र का विरोध होता है, वहां तो हम शास्त्र को उठा कर ताक़ में धर देते हैं। किन्तु जहां निर्बलों के स्वार्थ से शास्त्र टकराता है, वहां हम उस के अनन्यभक्त बन जाते हैं। यह शास्त्र की भक्ति नहीं, किन्तु अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए टट्टी की आड़ में शिकार खेलना है।

विधवाविवाह शास्त्रसम्मत है

उक्त कथन से कोई महाशय यह न समझें कि हम विधवा विवाह को शास्त्रविरुद्ध मानते हैं। हमारा कथन केवल यह है कि यदि विधवाविवाह के लिए शास्त्र में कोई आज्ञा न भी

होती, तब भी मनुष्यता के अनुरोध से लाखों निरपराध बालविधवाओं को अमानुषिक अत्याचार और नैराश्यजनित पाप और व्यभिचार से (जिस के कारण हिन्दूसमाज कलङ्कित होरहा है) बचाने के लिए हमें उसका आश्रय लेना चाहिये था, क्योंकि सब बातों के लिए हम शास्त्र की व्यवस्था नहीं ढूंढते फिरते। पर हमारे सौभाग्य से यह बात नहीं है. हमारे पूर्वज हमारे समान निष्ठुर और हृदयहीन न थे और वे यह भी खूब जानते थे कि समय किसी की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु समय की अपेक्षा यदि हम संसार में रहना चाहते हैं, तो हम को करनी चाहिये। यही कारण है कि उन्हों ने समय समय पर जब जैसी आवश्यकता हुई, तब वैसेही नियम हमारे लिए बनाये।

हम मानते हैं कि किसी विशेष परिस्थिति के कारण स्त्री समाज के नियन्त्रण की उनको आवश्यकता हुई, जिसके कारण उनको इनके लिए कुछ कठोर नियम बनाने पड़े और इनकी स्वतन्त्रता पर भी हस्तक्षेप करना पड़ा। परन्तु इस से उनका उद्देश इनको सताना या पृथ्वी का भार बनाना नहीं था, उस आकस्मिक विपद् से जिसमें हिन्दू धर्म के प्राण और हिन्दू जाति की सत्ता दोनों संकट में थे, इनकी और जाति की रक्षा करने के लिए ही उन्होंने इनके नियन्त्रण और रक्षण पर अधिक बल दिया। यही समय था जब कि इनको शिक्षा और स्वतन्त्रता से वञ्चित करके कुमारियों की धर्मरक्षा के लिए बालविवाह और विधवाओं को विधर्मियों के चुंगल से बचाने के लिए सतीदाह की प्रथायें प्रचलित हुईं। विधवा विवाह यद्यपि पूर्वकाल में प्रचलित था, पर इस समय के कुछ स्मृतिकारों ने उसका आंशिक विरोध किया, किसी किसी

ने पुष्टि भी की, पर लोकाचार ने अधिकतर विरोध का ही अनुसरण किया। उधर बालविवाह का जारी होना, इधर विधवाविवाह का रुकना, जब इन दोनों बातों का परिणाम बड़ा ही भयंकर हुवा और होना चाहिये था। जो विधवायें इस अत्याचार को सहन न करसकीं, वे कुलटायें बनगईं, जहां तहां गुप्तव्यभिचार, गर्भपात और भ्रूणहत्यायें होने लगीं और जो लोकलज्जा और अपने संबन्धियों की मानरक्षार्थ इस पाप पङ्क में लिप्त न हुईं, उनका जीवन उनके लियेही नहीं किन्तु उनके सम्बन्धियों की दृष्टि में भी कांटे की तरह खटकने लगा और वे सोते, जागते, उठते, बैठते, बोलते, चालते और आते जाते सर्वत्र शंका की दृष्टि से देखी जाने लगीं।

इस प्रकार इस पाप के कारण न मालूम कितनी अधखिली कलियां असमय में ही मुरझाकर अपनी जीवनलीला समाप्त करने लगीं। इन अनर्थों को देखकर उस समय के अनेक धर्मात्मा पुरुषों का हृदय पसीजा और उन्होंने उन्हीं ग्रन्थों में, जिनमें विधवाविवाह के निषेधक वाक्य मौजूद थे, विधायक वाक्य बनाकर जोड़ दिये, जिनमें अक्षतयोनि विधवाओं का विवाह तो बहुसम्मति से वैध ठहराया गया। पर किसी २ उदारचेता ग्रन्थकार ने तो क्षतयोनि विधवाओं को भी पाप जीवन से बचाने के लिए उनके विवाह की व्यवस्था दी, जिसका परिचय इसी अध्याय में आगे चलकर पाठकों को मिलेगा।

वेद और विधवाविवाह।

अब हम इस प्रकरण में पाठकों को यह दिखलाना चाहते हैं कि जो लोग धर्मशास्त्र की आड़ लेकर विधवाविवाह का

विरोध करते हैं और एड़ीसे चोटी तक बल लगाकर इसको शास्त्रविरुद्ध सिद्ध करने में अपने पांडित्य का दुरुपयोग करते हैं, उनको कहांतक इस अश्रद्धान्वित प्रयास में सफलता होती है? हिन्दू धर्मशास्त्र के सर्वसम्मत तीन अङ्ग हैं—श्रुति, स्मृति और पुराण। इन तीनों में भी श्रुति का प्रमाण मुख्य माना जाता है। प्राचीन या अर्वाचीन जितने धर्मशास्त्र के प्रणेता वा व्याख्याता हुवे हैं। चाहे वे पौरुषेय वादी हों या अपौरुषेय वादी, सबने प्रमाण विषय में श्रुति को अनपेक्ष और स्मृत्यादि को सापेक्ष माना है, स्मृति भी वही प्रमाण मानी गई हैं, जो श्रुति से अविरुद्ध हों। श्रुति से अविरोध होनेपर तो सभी का प्रमाण माना गया है, परन्तु जहां श्रुति, स्मृति और पुराण इन तीनों का विरोध हो, या स्मृति और पुराण का विरोध हो, वहां उत्तर उत्तर की अपेक्षा पूर्व पूर्व का प्रमाण माना गया है। इस सर्वसम्मत शास्त्रीयव्यवस्था को कोई सनातनधर्मी अस्वीकार नहीं कर सकता। जैसाकि महर्षि द्वैपायन महाभारत के शान्तिपर्व में लिखते हैं:—

श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते।
तत्र श्रौतं प्रमाणंतु तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा॥ (१)

अन्यत्र भी इसकी पुष्टि की गई है—

स्मृतेर्वेदविरोधे तु परित्यागो यथा भवेत्।
तथैव लौकिकं वाक्यं स्मृतिबाधे परित्यजेत्॥ (२)

(१) श्रुति, स्मृति और पुराण जहां इनमें विरोध हो, वहां श्रुति का प्रमाण मुख्य है तथा स्मृति और पुराण के विरोध में स्मृति श्रेष्ठ है।

(२) वेद से विरोध होने पर जैसे स्मृति त्याज्य है, ऐसे ही स्मृति से विरोध होने पर लौकिक वाक्य त्याज्य है।

इत्यादि वचनों से सिद्ध है कि जब वेद के विरुद्ध स्मृति और पुराण को भी नहीं माना गया है, तब लोकाचार और कुलाचार की तो कथा ही क्या है। वसिष्ठ का कथन है:—

देशधर्मजातिधर्मकुलधर्मान् श्रुत्यभावादब्रवीन्मनुः (१)

इसी प्रकार गौतम ने भी कहा है:—

देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम् । (२)

इन वचनों से सिद्ध है कि स्मृति से लेकर कुलधर्म तक वेद के अविरुद्ध का ही प्रमाण माना गया है। अब रही यह बात कि क्या वेद के विरुद्ध है और क्या अविरुद्ध, इसका निर्णय कैसे हो? इस पर जैमिनि पूर्वमीमांसा में लिखता है:—

विरोधेत्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् । (३)

(पूर्वमीमांसा २-३-३)

इस जैमिनीय व्यवस्था के अनुसार जिन विषयों का साक्षात् श्रुति से विरोध हो, वेही त्याज्य हैं और जिनका श्रुति में स्पष्ट विधि या निषेध कुछ न हो, वे यदि श्रुति के किसी आदेश के विरुद्ध नहीं हैं तो उनके विषय में अनुमान किया जायगा कि वे श्रुतिसम्मत हैं। जैसे कि षोड़श संस्कार या पञ्चमहायज्ञ, जिनका सूत्रों और स्मृतियों में तो सविस्तर

(१) श्रुति के अभाव में मनु देशधर्म या जातिधर्म या कुलधर्म का प्रमाण मानता है।

(२) देश, जाति और कुल धर्म वेद से अविरुद्ध ही प्रमाण हैं।

(३) विरोधमें तो त्याज्य है, पर विरोध न होने पर अनुमान करना चाहिये।

उल्लेख पाया जाता है, पर किसी श्रुति में अनुक्रम पूर्वक नहीं। इस व्यवस्था के अनुसार कोई इनको अवैदिक नहीं कह सकता। यदि श्रुति में हमारे विधेय विधवाविवाह की कोई स्पष्ट आज्ञा न भी होती, तब भी हम इस जैमिनीय व्यवस्था के अनुसार उसके वैदिक होने का अनुमान कर सकते थे। क्योंकि आजतक इसके विपक्षियों को इतना अन्वेषण करने पर भी किसी वेद में कोई श्रुति ऐसी नहीं मिली, जिसमें विधवाविवाह का स्पष्ट तो क्या सांकेतिक रीतिपर भी निषेध किया गया हो। पर हमारे सौभाग्य से विधवाविवाह ऐसा सन्दिग्ध या श्रुति में अप्रतिपादित विषय नहीं है, जिस को सिद्ध करने के लिए हमको कल्पना या अनुमान से काम लेना पड़ेगा, उसके लिए वेद में स्पष्ट आज्ञा है॥

वैदिक प्रमाण।

निदान हिन्दू शास्त्रकारों ने एकमत होकर प्रमाण विषय में वेद को सर्वोपरि महत्व दिया है। कोई हिन्दू चाहे किसी धर्म या संप्रदाय से सम्बन्ध रखता हो, वैदिक प्रमाण की उपेक्षा नहीं कर सकता। अतएव सब से पहले हम यही देखना चाहते हैं कि जिस वेद का हिन्दू इतना आदर करते हैं, उसकी प्रस्तुत विषय में क्या सम्मति है? लीजिये :—

उदीर्ष्वनार्यभि जीवलोकमितासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्त्वमेतत्पत्युर्जनित्वमभिसं बभूव॥

(कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता ६–१–१४)

इस मन्त्र का सर्ववेदभाष्यकार श्री सायणाचार्य ने जो भाष्य किया है, उस को अविकल हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं :--

सायणकृतभाष्यम्—"तां प्रतिगतः सव्ये पाणावभिपा-

द्योत्थापयति देवरःजरद्दासो वा। हे नारि! त्वमितासु गतप्राणमेतं पतिमुपशेषे, उपेत्य शयनं करोषि। उदीर्ष्व, अस्मात्पतिसमीपादुत्तिष्ठ। जीवलोकमभिजीवन्तं प्राणिसमूहमभिलक्ष्यैहि, आगच्छ। त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहवतो दिधिषोःपुनर्विवाहेच्छोः पत्युरेतज्जनित्वं जायात्वमभिसंबभूव, आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहीत्यर्थः।"

भाषानुवाद—"देवर वा कोई वृद्ध सेवक विधवा स्त्री का (जो मृतपति के पास बैठी हुई है) हाथ पकड़ कर उठाता है और कहता है, । हे नारि! तू मरे हुवे इस पति के पास बैठी है, यहां से उठ और जीवित प्राणिसमूह में आ। अब तू हाथ पकड़ने वाले और पुनर्विवाह की इच्छा करनेवाले पति के सम्मुख होकर उसके पत्नीत्व को प्राप्त कर।"

पाठक! यह उन सायनाचार्य्य का, जिनको हिन्दू वेदभाष्यकारों में प्रधान मानते हैं, शब्दशः अनुवाद है, इसमें कितनी स्पष्टता से पत्यन्तर का विधान किया गया है। विधवाविवाह का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है? पर शोक कि हमारे रूढ़िवादी भाई जो शास्त्र को भी रूढ़ि की पूँछ बनाना चाहते हैं, ऐसी स्पष्ट और असन्दिग्ध आज्ञा के होते हुवे भी इसको शास्त्रविरुद्ध कहने का हठ और साहस करते हैं।

यही मन्त्र कुछ पाठान्तर के साथ ऋग्वेद के मण्डल १० में भी आया है, वहाँ इसका पाठ और अर्थ सायनभाष्य में इस प्रकार दिया है:—

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि॥
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ॥

(ऋग्वेद १०—२—१८—८)

सायनभाष्यम्—"देवरादिकः प्रेतपत्नीमुदीर्ष्व नारीत्यनया भर्तृसकाशादुत्थापयेत्। हे नारि! मृतस्यपत्नि! जीव लोकं जीवानां पुत्रपौत्रादीनां लोकं स्थानं गृहमभिलक्ष्य उदीर्ष्व अस्मात्स्थानादुत्तिष्ठ। गतासुमक्रान्तप्राणमेतं पतिमुपशेषे, तस्य समीपे स्वपिषि। तस्मात्त्वमेहयागच्छ, यस्मात्त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहं कुर्वतः दिधिषोः गर्भस्य निधातुः तवास्य पत्युः सम्बन्धादागतमिदं जनित्वं जायात्वमभिलक्ष्य संबभूथ संभूतासि अनुसरणनिश्चयमकार्षीः तस्मादागच्छ।"

भाषानुवाद—"देवरादि प्रेतपत्नी को इस मन्त्र से पति के समीप से उठावै। हे नारि! जीवित पुत्र पौत्रादि के गृह को लक्ष्य करके तू यहाँ से उठ, तू इस मृतिपति के पास पड़ी है। तू पाणिग्रहण और गर्भधारण करने वाले इस पति के सम्बन्ध से प्राप्त हुवे पत्नीत्व को लक्ष्य करके सन्तप्त हो रही है और तैने मरने का निश्चय कर लिया है, इसलिए यहां से उठ।"

पूर्व मन्त्र के अर्थ से इस मन्त्र के अर्थ में कुछ भेद है। पूर्व मन्त्र में तो सायण ने स्पष्ट और असन्दिग्ध रीति पर विधवाविवाह का विधान किया है। इस मन्त्र के अर्थ में पदों की खींचतान और अध्याहारों की भरमार ही सिद्ध कर रही है कि "भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः"* इतनी खींच तान करने पर भी मन्त्र का कोई विधेय सिद्ध नहीं होता। जब लौकिक वाक्य भी विधेयशून्य नहीं होते, तब यह कैसे हो सकता है कि वैदिक वाक्य का कोई अभिधेय नहो? इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि पति की विद्यमानता में पत्नी कहलाती है, जब पतिही न रहा, तब पत्नीत्वधर्म

---

* लहसन खाने पर भी रोग शान्त न हुवा।

कैसा ? इस दशा में तो उस से वैधव्य धर्म के पालन करने का अनुरोध करना चाहिये था। क्या विधवा भी पत्नीत्व-धर्म का पालन कर सकती है ? यदि कर सकती है तो फिर विधवा और सधवा में भेद क्या रहा ? और यदि नहीं कर-सकती तो फिर उससे 'इदम्' सर्वनाम से जो अङ्गुलि-निर्देश में आता है, यह कहना कि तू मृतपति के इस पत्नीत्व को लक्ष्य करके उठ, सर्वथा अशक्योपदेश है। जब मृतपति-ही न रहा तब उसके सम्बन्ध से पत्नीत्व का आवाहन करना सूखे और मुरझाये हुवे पुष्प की सुगन्धि को फिर लाने की चेष्टा करना है। अतएव निम्नलिखित कारणों से यह दूसरा अर्थ असंगत है और मन्त्र के वास्तविक अभिप्राय को छिपाने के लिए किया गया है।

प्रथम तो इसमें पूर्वार्द्ध की उत्तरार्द्ध के साथ संगति ही नहीं मिलती। जब पूर्वार्द्ध में विधवा स्त्री को मृतपति के पास से उठाकर जीवितों में लाया गया है, तब उत्तरार्द्ध में फिर उसको मृतपति के सम्बन्ध की याद दिलाना असङ्गत ही नहीं, किन्तु शोकवर्द्धक भी है। उसके दुःख का कारण क्या है ? मृतपति की स्मृति, उससे उसका ध्यान हटाने से ही शोकापनोदन हो सकता है जिसमें इस मन्त्रका विनियोग है। उसको वहां से उठाकर फिर उसके सम्बन्ध की याद दिला-ना, यह शोकापनोदन है या शोकाभिवर्द्धन ?

दूसरे, जब उसका पति ही न रहा, तब उसमें पत्नी-त्वधर्म का आरोप कैसा ? क्या विना पति के भी वह पत्नीत्व धर्म का पालन कर सकती है ? अब जनित्व कहां है जिसको 'इदम्' शब्द से कहा जाता है ? अब तो वैधव्य है, इसलिए 'इदम्' सर्वनाम से उसीका निर्देश हो सकता है।

यदि श्रुति का तात्पर्य पूर्वपति के ही जनित्व से होता तो उसका निर्देश 'तद्' सर्वनाम से होना चाहिये था । साधारण वैयाकरण भी इस बात को जानते हैं कि 'इदम्' सर्वनाम संनिकृष्ट में और 'तद्' सर्वनाम परोक्ष में प्रयुक्त होता है । जैसा कि निम्नलिखित कारिका में भर्तृहरि ने कहा है :—

इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥ (१)

जब यहां जनित्व उसके पूर्वपति के सम्बन्ध से आया हुआ है, तो उसके लिए पूर्व परामर्शक 'तद्' सर्वनाम का प्रयोग होना चाहिये था, न कि वर्त्तमान काल के सूचक 'इदम्' सर्वनाम का । इससे सिद्ध है कि "इदं जनित्वम्" का सम्बन्ध वर्त्तमान पति से है, न कि मृतपति से । यदि "इदं जनित्वम् अभिसम्बभूथ" के स्थान में "इदं वैधव्यम् अभिसंबभूथ" कहा जाता, तब तो अर्थ की सङ्गति हो जाती और "अस्य सम्बन्धात् आगतम्" इस लम्बे अध्याहार के भी जोड़ने की आवश्यकता न होती ।

तीसरे, इस अर्थ में इतनी खींचतान करने पर भी "जादू वह जो सिर पै चढ़के बोले" इस कहावत के अनुसार 'हस्तग्राभस्य' इस पद के अर्थ में "पाणिग्राहं कुर्वतः" यह 'शतृप्रत्ययान्त' प्रयोग भाष्यकार की लेखनी से भी निकल ही पड़ा । इसने स्वयं ही पूर्वपति के सम्बन्ध का निराकरण कर दिया । क्योंकि "लटःशतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" इस पाणिनीय सूत्र (३-२-१२४) के अनुसार 'शतृ' प्रत्यय सदा

(१) समीपार्थ में 'इदम्' का, समीपतर में 'एतद्' का, दूरार्थ में 'अदस्' का और परोक्ष में 'तद्' सर्वनाम का प्रयोग होना चाहिए ।

वर्त्तमान काल में होता है। यदि यहाँ पाणिग्रहण करनेवाला विधवा का मृतपति होता तो भूतार्थक 'क्तवत्' प्रत्ययान्त का प्रयोग किया जाता, अर्थात् "पाणिग्राहं कृतवतः" पाठ होता। क्योंकि मृतपति तो उसका पाणिग्रहण करचुका है, न कि अब करता है। फिर उसके लिए 'कुर्वतः' यह 'शतृ' प्रत्ययान्त प्रयोग देना उस बिना नीव की भित्ति को जो वास्तविक अर्थ को छिपाने के लिए उठाई गई है, एक दम ढा देता है।

चौथे, इस अर्थ में 'दिधिषु' शब्द का अर्थ, जो द्विरूढ़ापति के लिए प्रयुक्त हुवा है, 'गर्भधाता' करना अप्रासङ्गिक है। देखो, मनु इसका प्रयोग द्विरूढ़ापति के लिए करता है :—

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः।
धर्मेणापि नियुक्तायां सज्ञेयो दिधिषूपतिः॥ (३-१०३) (१)

अन्य भी स्मृतिकारों ने प्रायः इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। प्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह भी इस शब्द का यही निर्वचन करता है :—

पुनर्भूर्दिधिषूरूढ़ा द्विस्तस्या दिधिषुःपतिः।
सतु द्विजोऽग्रेदिधिषुः सैव यस्य कुटुम्बिनी (२-६-२३) (२)

अमरकोश के इस प्रमाण से सिद्ध है कि अमरसिंह के समय में द्विजोंमें विधवा का पुनर्विवाह प्रचलित था।

---

(१) मृत भ्राता की स्त्री में चाहे वह धर्म से, नियुक्त भी की गई हो, जो काम से अनुरक्त होता है, वह दिधिषू पति है।

(२) पुनर्भू और दिधिषूः द्विरुढ़ा अर्थात पुनर्विवाहिता के नाम हैं, उसके पति का नाम 'दिधिषु' है। यदि वह द्विज हो तो अग्रेदिधिषु' है, जिसकी द्विरूढा कुटुम्बिनी है।

अन्यथा "सतु द्विजोऽग्रेदिधिषुः सैव यस्य कुटुम्बिनी" वह न लिखता । अर्वाचीन अभिधानकारों ने भी प्रायः इसी का अनुसरण किया है, विस्तरभय से हम यहाँ पर उसका उल्लेख करने में असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त 'गर्भधाता' अर्थ करने से वेद में व्यर्थापत्ति दोष भी आता है, जो सर्वथा अनिष्ट है। यदि कोई गर्भाधान किए विना ही पञ्चत्व को प्राप्त हो जाय तो उसके लिए यह विशेषण व्यर्थ होगा। अतएव 'दिधिषु' शब्द का यहां पर 'गर्भधाता' अर्थ करना किसी प्रकार ठीक नहीं।

पांचवें, इतनी पदों की खींचतान और अध्याहारों की भरमार करने पर भी मन्त्र का कोई विधेय सिद्ध नहीं होता। आश्चर्य्य की बात है कि मुर्दे के पास से तो विधवा को उठाया जाता है और जीवितों में भी लाया जाता है, पर इस प्रश्न का उत्तर कि अब वह प्राणिसमूह में आकर क्या करे और किस प्रकार अपने जीवन को यापन करे, इस अर्थ में कुछ नहीं मिलता, और यही इसकी अविधेयता है।

छठे, इस से पहले मन्त्र में मृतक को श्मशान में पहुँचाकर जो स्त्रियाँ गृह में प्रवेश करें, उनको सामान्यतः अविधवा और सुपत्नी आदि विशेषणों से अलंकृत किया गया है, उससे इसकी सङ्गति नहीं मिलती, हम उस मन्त्र को भी सायणकृत अनुवाद सहित यहां उद्धृत करते हैं।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु ।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥
(ऋग्वेद १०-२-१८-७)

सायणभाष्यम्—"(अविधवाः) जीवत्भर्तृकाः (सुपत्नीः) शोभनपतिकाः (इमा नारीः) एता नार्यः (आञ्जनेन) सर्व-

तोऽञ्जन साधनेन (सर्पिषा) घृतेनाक्तनेत्राः सत्यः (संविशन्तु) गृहान् प्रविशन्तु तथा (अनश्रवः) अश्रुवर्जिताः (अनमीवाः) अमीवा रोगस्तद्वर्जिता मानसदुःखरहिता इत्यर्थः (सुरत्नाः) रत्नैरलंकृताः (जनयः) जनयन्त्यपत्यमिति जायाः (अग्रे) सर्वेषां प्रथमतएव (योनिम्) गृहम् (आरोहन्तु) आगच्छन्तु ।"

भाषानुवाद—"जीवित और शोभनपति वाली ये स्त्रियां अञ्जन और घृत आंखों में लगाकर घरों में प्रवेश करें । ये दुःख और शोक से रहित एवं रत्नों से अलंकृत होकर सबसे पहले घरों में आवें ।"

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का हृदय कोमल होता है, उनपर शोक या हर्ष का प्रभाव अधिक और शीघ्र पड़ता है, उससे बचाने के लिए ही उन्हें शोक और विलाप से रोका गया है। इस मन्त्र में जो स्त्रियों के विशेषण दिये गये हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि उस समय का पुरुषसमाज इनको इस भयानक दशा में, जिसमें आजकल लाखों बालविधवायें अपना दुःखमय जीवन व्यतीत करती हैं, देखना पसन्द नहीं करता था। वह जिस स्थिति में इनको देखना चाहता था उसीका संक्षिप्त चित्र इस मन्त्र में खींचा गया है।

पाठक ! यही मन्त्र है जिसमें 'अग्रे' का 'अग्ने' बनाकर बंगाल के कुछ पण्डितों ने सतीदाह प्रथा की पुष्टि में इस मन्त्र को प्रस्तुत किया था, और इसका यह अर्थ किया था कि "हे अग्ने ! ये स्त्रियां विधवापन के दुःखों को न भोगने के लिए आंखों में अञ्जन और घी लगाकर शोक न करती हुई तेरी ज्वाला में प्रवेश करें।" सर रमेशचन्द्र दत्त अपने प्राचीन सभ्यता के इतिहास में लिखते हैं कि "धर्मोन्माद का इससे अधिक निन्दनीय उदाहरण और क्या हो सकता है?" हर्ष का

विषय है कि श्रीसायणाचार्य के उक्त अर्थ की विद्यमानता में धर्मध्वज पण्डितों की यह चाल न चल सकी और सब पोल खुल गई ।

अस्तु, जब सायण पूर्व मन्त्र के अर्थ में तो स्त्रियों का विधवा रहना अच्छा नहीं समझता और उनको सुहाग के अलङ्कारों से भूषित देखना चाहता है, फिर यह कब हो सकता है कि वह उत्तर मन्त्र के अनुवाद में उनको मृतपति के पत्नीत्व में जकड़ना चाहे। अतएव पूर्वमन्त्र के अर्थ से तथा यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता के इसी मन्त्र के सायणकृत अर्थ से (जैसाकि हम दिखला चुके हैं) विरुद्ध होने के कारण यह अर्थ (चाहे सायण का किया हो या उसके नामसे किसी अन्य का) कदापि माननीय नहीं हो सकता ।

सातवें, यदि प्रदर्शित हेतुओं की उपेक्षा करके "तुष्यतु दुर्जनः" न्याय से हम इस अर्थ को भी ठीक मान लें, तब भी विपक्षियों को यह कहने का अधिकार कब है कि हम सायण के इस अर्थ को तो ठीक मानते हैं, पर पूर्व मन्त्र के अर्थ को नहीं। मन्त्र दोनों वेद के हैं, और भाष्यकार भी दोनों का एक ही है, फिर कोई कारण नहीं कि एक को तो प्रमाण माना जाय और दूसरे को अप्रमाण । वेदानुयायी लोगों के लिए मनु की इस व्यवस्थानुसार दोनों ही प्रमाण होने चाहियें :—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपिहितौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ (२-२४)(१)

अब हम ऋग्वेद का एक मन्त्र और उद्घृत करते हैं,

(१) जहां श्रुति में विरोध हो, वहां दोनों पक्ष ही प्रमाण मानने चाहियें ।

जिससे पूर्वकालिक विधवाओं की परिस्थिति का अच्छा परिचय मिलता है, और हर्ष का विषय है कि वह परिस्थिति सर्वथा विधवाविवाह की पोषक है ।

वह मन्त्र यह है :—

कुह स्विदोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थआ ॥
(ऋग्वेद १०-८-४०-२)

सायणभाष्यम् — 'हे अश्विनौ ! (कुहस्वित्) कस्वित् (दोषा) रात्रौ (कुह) क्व (वस्तोः) दिवा भवथः (कुह) क्व (अभिपित्वम्) प्राप्तिम् (करतः) कुरुथः (कुह) क्वा (ऊषथुः) वसथः । किंच (वाम्) युवाम् (कः) यजमानः (सधस्थे) सहस्थाने वेद्याख्ये (आकृणुते) आकुरुते, परिचरणार्थमात्माभिमुखीकरोतीत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तौ दर्शयति (शयुत्रा) शयने (विधवेव) यथा मृतभर्तृका नारी (देवरम्) देवरमभिमुखीकरोति । (मर्यंन) यथाच सर्वं मनुष्यम् (योषाः) सर्वा नारीः संभोगकालेऽभिमुखीकरोति, तद्वदित्यर्थः।"

भाषानुवाद—"हे अश्विन देवताओं ! तुम रात में और दिन में कहां रहे, कहां तुमने आवश्यक पदार्थों को पाया, और कहां तुम बसे ? किस यजमान ने यज्ञशाला में तुम्हारी सेवा की जैसे शय्या में विधवा देवर की और स्त्री मैथुनकाल में पुरुष की सेवा करती है ।"

इसी मन्त्र की व्याख्या करता हुआ यास्क निरुक्त में देवर शब्द का यह निर्वचन करता है—"देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते" देवर इसलिए कहलाता है कि वह दूसरा वर है ।

पाठक ! अब आप न्याय करें कि इस से अधिक विधवा-

विवाह की पुष्टि और क्या हो सकती है ? यदि वैदिक काल में विधवाविवाह वर्जित होता तो वेद का यह मन्त्र इतनी स्पष्टोक्ति में शयनस्थान में विधवा को देवर के पास जाने और उसकी सेवा करने की अनुमति कदापि न देता। वेदमन्त्रों में इतना स्पष्ट विधान होने पर भी विपक्षी इसको वेद-विरुद्ध कहने का हठ और साहस करते हैं। किमाश्चर्यमतः परम् ?

अब हम अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों को उद्धृत करेंगे, जिनमें विधवाविवाह की स्पष्ट आज्ञा दी गई है। अथर्ववेद के नवें काण्ड में एक अजपञ्चौदन सूक्त है, जिसमें कुल ३८ मन्त्र हैं, उसके २७ वें और २८ वें मन्त्र में कितनी स्पष्टता से विधवा-विवाह का प्रतिपादन किया गया है। यथा :—

या पूर्वं पतिं वित्वाऽथान्यं विन्दते परम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वियोषतः ॥
समानलोको भवति पुनर्भुवाऽपरःपतिः।
योऽजंपञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥

(अथर्व० ९।३।५।२७-२८)

सायणकृतपदच्छेदः—या पूर्वं पतिं वित्वा अथ अन्यं विन्दते परम्। पञ्चौदनं च तौ अजं ददातः न वियोषतः ॥२७॥ समानलोकः भवति पुनर्भुवा अपरः पतिः यः अजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २८ ॥

भाषानुवाद—जो पहले पति को प्राप्त होकर तदन्तर दूसरे पति को प्राप्त होती है, वे दोनों अजपञ्चौदन दानको देते हुवे वियुक्त नहीं होते ॥२७॥ विधवा के साथ दूसरा पति एक ही लोक में रहता है, जो दक्षिणा की ज्योतिवाले अजपञ्चौदन दान को देता है ॥२८॥

पहले मन्त्र से विधवा और उसके दूसरे पति का चिरकाल तक विना वियोग के इस लोक में संयुक्त रहना और दूसरे से परलोक में भी एक ही साथ स्वर्गसुख का भोगना किस स्पष्टता के साथ दिखलाया गया है। पाठक! जिस हिन्दू-धर्म में स्त्री के लिए पतिसंयोग से बढ़कर और कोई सुख और पतिलोक की प्राप्ति से बढ़कर और कोई गति नहीं मानी गई है, जब वेद भगवान् स्वयं अजपञ्चौदन यज्ञ करने से पुनर्विवाहिता विधवा को भी उसी सुख और गति का अधिकारी बतलाते हैं, तब वे लोग जो वेद की इस आज्ञा के विरुद्ध रूढ़ि का आश्रय लेकर विधवाओं को इस स्वत्व से वञ्चित करना चाहते हैं, वे संसार में केवल पाप और अनर्थ का ही बीज नहीं बो रहे, किन्तु जान बूझकर शास्त्र की विडंबना कर रहे हैं। गोस्वामी श्री तुलसीदासजी ऐसे ही लोगों के विषय में लिखते हैं :—

कलप २ भरि एक २ नर्का। परिहिं जे दूषहिं श्रुति कर तर्का॥

इसी अथर्ववेद के अठारहवें काण्ड में दो मन्त्र और हैं, उनसे भी विधवाविवाह की भली प्रकार पुष्टि होती है। पहला मन्त्र यह है :—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उपत्वा मर्त्यप्रेतम्।
धर्मं पुराण मनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥

(अथर्व १८। ३। १। १)

श्री सायणाचार्य ने जो इस मन्त्र का अर्थ किया है, वह इस प्रकार है :—

"हे मर्त्य! यह स्त्री पतिलोक को चाहती हुई और पुराण धर्म का पालन करती हुई तुझ प्रेत के पास आई है, उसके लिए इस लोक में सन्तान और धन को धारण कर।"

यदि इस मन्त्र से मृतपति के साथ विधवा का सहमरण अभीष्ट होता तो चतुर्थपाद में इस लोक में उसके लिये सन्तान और धन की प्रार्थना करना निष्फल होता है। अतएव सहमरण की कल्पना को तो यह प्रार्थना ही निरस्त कर देती है। अब रहा उसका प्रजावती और धनवती होना, सो चाहे धनवती होना किसी और प्रकार से भी सम्भव हो सके, पर प्रजावती होना तो पति के अभाव में सर्वथा असम्भव है। अतएव इस मंत्र की आज्ञानुसार जबतक वह पुनर्विवाह न करेगी, प्रजावती कैसे हो सकती है? इस मंत्र का यही निष्कर्ष बंगाल के सुप्रसिद्ध विवेचक पं० महेशचन्द्र घोष ने भी कार्तिक संवत् १९७६ के 'प्रवासी' में (जो बंगभाषा का एक प्रसिद्ध मासिकपत्र है) निकाला है॥

इसके आगे दूसरा मंत्र वही है जो तैत्तिरीय यजुः संहिता और ऋग्वेद से हम उद्धृत कर चुके हैं। यद्यपि उसके अर्थ में कुछ विशेषता नहीं है, तथापि मृतपति से सन्तान और धन की अनुज्ञा लेने के पश्चात् विधवा को उसके पास से उठाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि यदि भविष्य में उसे धन और सन्तान की कामना है, तो पुनर्विवाह के द्वारा वह उसे पूर्ण करे, क्योंकि बिना पुनर्विवाह के चाहे धन की कामना पूरी हो जाय, पर सन्तान की कामना पूरी करने का तो सिवाय इसके और कोई उपाय ही नहीं है।

अथर्ववेद के ये दोनों मन्त्र श्रीमान् सायणाचार्य के ही भाष्यानुसार इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि इन मन्त्रों के रचे जाने के पूर्व यहां अनुगमन की प्रथा का अनुसरण किया जाता था और स्त्रियां मोहवश श्मशान में

जाकर अपने मृतपति के शव से चिमट जाती थीं। उनको ऐसा करने से रोकने के लिए ही ऋषियों ने इन मन्त्रों का उपदेश किया है। पहले मन्त्र में मृतपति को सम्बोधन करके साफ़ कहा गया है कि यह स्त्री पतिलोक की इच्छा से पुरातन धर्म का पालन करती हुई तेरे पास आई है। तू अब इसको यहीं पर धन सन्तान से युक्त कर। चिता के सम्मुख खड़े होकर सब प्रेतहार मृतक से यह प्रार्थना करते थे। इसके बाद इस से अगले मन्त्र "उदीर्ष्व नारीति" से देवर या जरद्दास उसका हाथ पकड़ कर चिता से उतार लेता था और कहता था कि यदि तू गृहस्थ का सुख भोगना चाहती है, तो पुनर्विवाह कर। इन दोनों मन्त्रों के इस सरल और स्पष्टार्थ को यदि ब्रह्मा भी खींचतान कर बदलना चाहे तो कभी सफल प्रयत्न न होगा।

इनके अतिरिक्त अथर्ववेद के ५ वें काण्ड में एक मंत्र और है, जिससे पूर्वकाल में बहुपत्नीत्व के समान बहुपतित्व का होना भी सिद्ध होता है:—

उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्सएव पतिरेकधा॥
(अथर्व ५।४।१७।८)

भावार्थ—यदि पहले किसी स्त्री के अब्राह्मण दश पति भी हों, ब्राह्मण यदि एक भी हाथ पकड़े तो वह सच्चा पति है।

इससे सिद्ध है कि पूर्व काल में पति के मरने पर ही नहीं, किन्तु जीवितावस्था में भी स्त्रियां दूसरा पति कर सकती थीं। और अब्राह्मण अन्यपतियों की पत्नी होते हुए भी कोई स्त्री ब्राह्मण की पत्नी बन सकती थी। द्रौपदी के

पांच पति और मारिषा के दश पति की कथा भी चाहे कल्पित हो वा वास्तविक, उसका आधार भी हम तो इसी प्रकार की श्रुतियों को समझते हैं। इससे कोई महाशय यह न समझें कि हम बहुपतित्व की प्रथा को अच्छा समझते हैं। हमारा आशय केवल इतना ही है कि जिस वेद में बहुपतित्व तक का विधान किया गया है, उसको विधवाविवाह के विरुद्ध बतलाना विपक्षियों का कितना बड़ा साहस है?

क्या वेद में कहीं विधवाविवाह का निषेध भी है!

पाठक! वेदों में और भी अनेक मन्त्र हैं, जो विधवा विवाह की पुष्टि में प्रस्तुत किये जा सकते हैं परन्तु हम इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझते। जो वेदानुयायी हैं, उनके लिए एक भी वेदवचन पर्याप्त है। पर हाँ जो वेद को अपना अनुयायी बनाना चाहते हैं उनके लिए सारे वेद भी कुछ नहीं कर सकते। यदि वेद में कोई वचन ऐसा भी होता कि जिसमें विधवाविवाह का प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति पर निषेध भी होता तो भी शास्त्रकारों की बांधी हुई मर्यादा के अनुसार कोई वेदानुयायी इन विधायक वाक्यों को अप्रमाण कहने का साहस नहीं कर सकता था, क्योंकि श्रुतिद्वैध में सब शास्त्रकार दोनों पक्षों को ही प्रमाण मानते हैं। पर वेद का कोई ऐसा वचन आज तक इसके विपक्षी इतना गर्जन और तर्जन करने पर भी प्रस्तुत नहीं कर सके, जिसमें विधवा-विवाह का स्पष्ट निषेध किया गया हो, जैसा कि उक्त मन्त्रों में स्पष्ट विधान किया गया है। बड़ी ढूंढभाल के पश्चात् दो प्रमाण उनको ऐसे मिले हैं, जिनको वे इसके खण्डन में प्रस्तुत करते हैं। उनमें से एक ऐतरेय ब्राह्मण का है और दूसरा तैत्तिरीय संहिता का। हम उन दोनों प्रमाणों को भी

यहां उद्धृत करते हैं और उनसे कहां तक विधवाविवाह का खण्डन होता है, इसका निर्णय पाठकों के ऊपर छोड़ते हैं।

तस्मादेकस्य बह्वयो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतयः।

(ऐतरेयब्राह्मण पञ्चिका ३ खण्ड १२)

भावार्थ—"इसलिए एक पुरुष की बहुत सी स्त्रियां होती हैं, एक स्त्री के एक साथ अनेक पति नहीं होते।"

इस वचन को विधवाविवाह के खण्डन में प्रस्तुत किया जाता है। हम आश्चर्य में हैं कि इससे विधवाविवाह का खंडन क्योंकर होता है? जबकि इसमें 'पतयः' शब्द के साथ 'सह' अव्यय प्रयुक्त हुआ है। क्या यह कहना कि किसी स्त्री के एक साथ अनेक पति नहीं हो सकते, इस बातको सिद्ध नहीं करता कि समयान्तर में हो सकते हैं? जब श्रुति में स्पष्ट यह कहा गया है कि एक साथ स्त्री के अनेक पति नहीं हो सकते, तब अर्थापत्ति से स्वयमेव यह सिद्ध होगया कि समयान्तर में ऐसा हो सकता है, फिर यह प्रमाण विपक्ष का साधक है या बाधक? हमारे इस कथन की पुष्टि में दो प्रमाण ऐसे हैं, जिन पर विपक्षियों को कुछ कहने का अवकाश ही नहीं मिल सकता पहला, 'वीरमित्रोदय' ग्रन्थ के प्रणेता मित्र मिश्र का, और दूसरा, महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ का। इसी श्रुति की विवेचना करते हुवे मित्र मिश्र वीरमित्रोदय में लिखते हैं:—

"अथाधिवेदनम्, तदुक्तमैतरेय ब्राह्मणे- "एकस्य बह्वयो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतय इति" सह शब्द सामर्थ्याद् क्रमेण पत्यन्तरं भवतीति गम्यते। अतएव "नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयत इति मनुना स्त्रीणामपि पत्यन्तरं स्मर्यते।

(वीरमित्रोदय अधिवेदन प्रकरणम्)

भावार्थ—अब अधिवेदन (बहुविवाह) का प्रकरण आरम्भ करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि "एक पुरुष की अनेक स्त्रियां हो सकती हैं परन्तु एक स्त्री के एक साथ अनेक पति नहीं हो सकते।" इस पर मित्र मिश्र लिखते हैं—"सह शब्द के सामर्थ्य से क्रमपूर्वक पत्यन्तर का होना सिद्ध होता है, तभी तो "नष्टे मृते प्रव्रजिते" इस पद्य में मनु ने भी स्त्रियों के पत्यन्तर का विधान किया है।" यह है उक्त श्रुति पर मित्र मिश्र की सम्मति।

आधुनिक मनुस्मृति में "नष्टे मृते प्रव्रजिते" यह पद्य नहीं मिलता, किन्तु पराशर स्मृति और नारदस्मृति में मिलता है। पर मित्र मिश्र के इस लेख से यह सिद्ध है कि पहले मनुस्मृति में यह पद्य था, अन्यथा "मनुना स्मर्यते" यह वे न लिखते। इसके अतिरिक्त माधवाचार्य ने भी पराशरस्मृति की टीका में इसे मनु का वचन लिखा है। जब दो विद्वानों की यह सम्मति है, तब यदि हम यह अनुमान करें कि विपक्षियों के हस्तक्षेप का यह फल है तो यह उनपर मिथ्यापवाद लगाना न होगा। अस्तु, ऐसा करने से भी उनका मनोरथ सिद्ध न हुवा, जबकि पराशरस्मृति में जो विशेषतः कलियुग के लिए है और नारदस्मृति में जो मनुस्मृति का संक्षेपसार है, यह पद्य मौजूद है।

दूसरा प्रमाण महाभारत का है। जब युधिष्ठिर ने पांचों भाइयों के साथ राजा द्रुपद से द्रौपदी के विवाह का प्रस्ताव किया, तब द्रुपद ने युधिष्ठिर से कहा :—

> एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन।
> नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित्॥ (१)

(१) हे कौरव ! एक पुरुष की अनेक स्त्रियां शास्त्र में विहित हैं, परन्तु एक स्त्री के अनेक पति नहीं सुने जाते।

विद्यमानता में है और इसकी पुष्टि ऐतरेय ब्राह्मण के उल्लिखित प्रमाण से भली प्रकार होती है ।

पाठक ! आपने देख लिया, विपक्षियों की ओर से बड़ी ढूंढ भाल के पश्चात् जो दो वैदिक प्रमाण विधवाविवाह के खण्डन में दिये गये थे, उनका क्या परिणाम हुवा ? बस ऐसेही प्रमाणों से जो किसी विशेष अवस्था में बहुपतित्व का निषेध करते हैं, हमारे भाई विधवाविवाह को अवैध सिद्ध करना चाहते हैं। यदि इनसे विधवाविवाह अवैध सिद्ध हो सकता है तो फिर आशौच में यज्ञ, दान और व्रत आदि वर्जित होने से ये सब अवैध हो जायेंगे। किसी विशेष परिस्थिति में कोई काम वर्जित होने से उसका सब अवस्थाओं में वर्जित समझ लेना यह बुद्धि की जीर्णता नहीं तो और क्या है ? हम बलपूर्वक यह बात कह सकते हैं कि ऐसा कोई वैदिक प्रमाण जिसमें स्पष्ट और प्रत्येक दशा में स्त्रियों के लिए पत्यन्तर का निषेध किया गया हो, आजतक इसके विपक्षी न तो प्रस्तुत कर सके हैं और न कर सकते हैं।

स्मृतिशास्त्र और विधवाविवाह ।

अब हम स्मृतिशास्त्र से विधवाविवाह का वैध होना सिद्ध करेंगे। याज्ञवल्क्य के मतानुसार स्मृतिसंहिता २० हैं, जिनके नाम ये हैं :—

मन्वत्रिविष्णुहारीत याज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः ।
यमापस्तम्बसंवर्त्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥

पराशरव्यासशंखलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥ (१)

(याज्ञवल्क्य स्मृति अध्याय १)

ये २० स्मृतिकार हुवे हैं जिनके बनाये ग्रन्थ संहिता वा स्मृति कहलाते हैं, अब विचारणीय यह है कि इन स्मृतियों में जो कुछ प्रतिपादन किया गया है, वह सब युगों के लिए समान है, या भिन्न २ युगों के लिए भिन्न २ धर्म नियत किये गये हैं? इस प्रश्न का उत्तर मनु यह देता है :—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥ (२)

(मनु १-८५)।

कृतयुग आदि में जो धर्म माने जाते थे, वे कलियुग में नहीं माने जा सकते। क्योंकि कलियुग में मानुषी बुद्धि और बल का बहुत कुछ ह्रास हो गया है। अब प्रश्न यह होता है कि कलियुग के धर्म किस या किन ग्रन्थों में वर्णन किये गये हैं? इसका उत्तर पराशर अपनी स्मृति में यह देता है :—

कृते तु मानवाः धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः।
द्वापरे शंखलिखिताः कलौ पाराशराःस्मृताः॥ (३)

(पराशरस्मृति १-२४।)

---

(१) मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अंगिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, वृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठ।

(२) कृत, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारयुगों में अपनी २ परिस्थिति के अनुसार भिन्न २ धर्म होते हैं।

(३) कृतयुग में मनु के, त्रेता में गौतम के,द्वापर में शंख के और कलियुग में पराशर के धर्म माननीय हैं।

करें तो न करें, पर उन लोगों को तो अवश्य अनुभव करना चाहिये जो पचास २ और साठ २ वर्ष की अवस्था में भी विना स्त्री के नहीं रह सकते ।

अतएव बालविधवाओं के लिए पराशरोक्त केवल पहला उपाय ही शेष रह जाता है कि वे पुनर्विवाह करके गृहस्थधर्म का पालन करें । और इसी लिए पराशर ने कलियुग में उसको सब से आवश्यक समझकर पहली कक्षा में रक्खा है । इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि जो विधवायें सन्तानवाली हैं, या गृहस्थ का कुछ सुख भोग चुकी हैं, वे भी ब्रह्मचर्य से पुनर्विवाह को श्रेष्ठ समझें । हाँ यदि उनमें से भी किसी की प्रवृत्ति विषयवासना की ओर है तो छिप छिप कर पाप करने की अपेक्षा उनके लिए भी पुनर्विवाह बहुत ही उत्तम है ।

अब रही यह बात कि इस पुनर्विवाह से जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह पौनर्भव कहलायगी या औरस । मन्वादि स्मृतिकार तो जिन्होंने बारह प्रकार की सन्तति मानी है, ऐसी सन्तानको पौनर्भव मानते हैं, पर पराशर ने केवल तीन ही प्रकार की सन्तति मानी है :—

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमकःसुतः ।

औरस, क्षेत्रज, दत्त या कृत्रिम । इनमें से क्षेत्रज तो वह सन्तान है, जो नियोग के द्वारा दूसरे के लिए उत्पन्न की जाती है । दत्त और कृत्रिम भी दूसरे की सन्तान हैं, केवल औरस ही अपनी सन्तान है । दूसरी बात यह है कि पुनर्विवाह करने से केवल स्त्री की ही ।' पुनर्भू ' संज्ञा नहीं होती, किन्तु पुरुष की

भी होती है। यही कारण है कि यह शब्द स्त्रीलिंग और पुल्लिंग दोनों में आता है। "एकस्य भूत्वा पुनरन्यस्य भवतीति पुनर्भूः" सो यह लक्षण स्त्री पुरुष दोनों में समान है। फिर यह कैसा अन्धेर है कि हज़ारों पुनर्भू पुरुष पुनर्विवाह से जो सन्तान उत्पन्न करते हैं, उनकी बाबत यह प्रश्न नहीं होता कि वे औरस हैं या पौनर्भव ? केवल पुनर्भू स्त्रियों के विषय में यह प्रश्न किया जाता है। हमारा उत्तर यह है कि यदि पुनर्भू पुरुष की सन्तान निर्विवाद औरस मानी जाती है तो फिर हम पुनर्भू स्त्री को भी इस अधिकार से वञ्चित नहीं कर सकते। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सन्तान का नामकरण पुरुष के नाम से न करके स्त्री के नाम से किया जाता है। हमारे कथन की पुष्टि महाभारत के भीष्मपर्व में महर्षि द्वैपायन करते हैं :—

अजानन्नर्जुनश्चापि निहतं पुत्रमौरसम् ।
जघान समरे शूरान् राज्ञस्तान्भीष्मरक्षिणः ॥ (१)

(म० भा० भीष्मपर्व अध्याय ९१ श्लोक ८०) ॥

इस श्लोकमें 'इरावान्' को अर्जुनका औरस पुत्र कहा गया है। यदि पुनर्विवाह से उत्पन्न पुत्र औरस न कहला कर पौनर्भव कहलाते तो व्यासजी पुनर्विवाहिता नागराजसुता के पुत्र को कदापि औरस न लिखते।

जो लोग कहते हैं कि मनु ने पुनर्भू स्त्री की ही सन्तति को पौनर्भव माना है न कि पुनर्भू पुरुष को। यथा :—

---

१ अपने औरस पुत्र इरावान् को मरा हुआ न जान कर भी अर्जुन ने युद्ध में [illegible] रक्षक शूरों को मारा।

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत् पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ (१)

(मनु० ९-१७५)

उनके प्रति हमारा यह निवेदन है कि मनु ने तो बारह प्रकार के पुत्रों में क्षेत्रज-नियोग से उत्पन्न, अपविद्ध-परित्यक्त और गूढोत्पन्न-जारज को भी दायाद (वारिस) माना है। क्या आज कल वे ऐसे पुत्रों को यह अधिकार देने के लिए प्रस्तुत हैं ? यदि नहीं तो फिर मनु की दुहाई देकर पौनर्भव को हीन क्यों सिद्ध किया जाता है ? यदि मनु निर्दिष्ट दायभाग कलियुग के लिए सम्मत होता तो बृहस्पति अपनी स्मृति में यह न लिखता :—

अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिर्ये पुरातनैः ।
न शक्यास्तेऽधुना कर्त्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः ॥ (२)

(बृहस्पति स्मृति १४-१४)

इससे सिद्ध है कि चाहे अन्य युगों में पुनर्विवाह की सन्तान पौनर्भव कहलाती हो, पर कलियुग में भगवान् पराशर ने उसको औरस ही माना है। यदि वे उसको औरस न मानते तो फिर कोई कारण न था कि पुनर्विवाह का विधान करके एक चौथी संख्या पौनर्भव की और न रखते।

---

(१) जो पति से त्याग की हुई या विधवा अपनी इच्छा से पुनर्विवाह करके जिसे उत्पन्न करे, वह 'पुनर्भू' कहलाता है।

(२) प्राचीन ऋषियों ने जो अनेक प्रकार के पुत्र उत्पन्न किये, उनको शक्तिहीन आजकल के मनुष्य उत्पन्न नहीं कर सकते।

विपक्षियों के आक्षेप और उनकी आलोचना।

अब हम उन आक्षेपों की भी कुछ आलोचना करना चाहते हैं, जो विधवाविवाह के विपक्षी पराशरोक्ति पर किया करते हैं।

पहला आक्षेप उनका यह है कि माधव ने जो पराशर स्मृति का प्रसिद्ध टीकाकार है, पराशर के इन वचनों को युगान्तरीय कहकर कलियुग के लिए पुनर्विवाह को निषिद्ध ठहराया है।

समीक्षा—कैसे आश्चर्य की बात है कि जो पराशर अपनी संहिता के आरम्भ में ही यह प्रतिज्ञा करता है "अतः परं गृहस्थस्य धर्माचारं कलौयुगे" अब मैं कलियुग में गृहस्थ के धर्म और आचारों का वर्णन करता हूँ" जिसके विषय में प्रायः स्मृतिकारों की यह सम्मति है कि पराशरस्मृति कलिधर्म का निरूपण करती है, उसके इन वचनों की बाबत माधवाचार्य का यह लिखना कि ये कलियुग के वास्ते नहीं हैं, क्या यह वही बात नहीं है कि "मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त"? तभी तो माधव के इस प्रलाप का श्री भट्टोजिदीक्षित ने चतुर्विंशति स्मृति की व्याख्या में इस प्रकार निराकरण किया है :—

"नच कलिनिषिद्धस्यापि युगान्तरीय धर्मस्यैव 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' इत्यादि पराशरवाक्यं प्रतिपादकमिति वाच्यं कलावनुष्ठेयान् धर्मानेव वक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय तद्ग्रन्थ प्रणयनात्।"

(चतुर्विंशतिस्मृतिव्याख्यायाम्)

भावार्थ—" 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' इत्यादि यह पराशर-वाक्य कलिनिषिद्ध युगान्तरीय धर्म का प्रतिपादक है, माधव

का यह कथन अयुक्त है क्योंकि कलियुग में अनुष्ठेय धर्मों का वर्णन करता हूँ, यह प्रतिज्ञा करके ही पराशरस्मृति बनाई गई है ।"

भट्टोजिदीक्षित के इस कथन से सिद्ध है कि सारी पराशरस्मृति कलियुग से सम्बन्ध रखती है, फिर उसके किसी वचन को कलियुग के लिए निषिद्ध ठहराना उसके उद्देश और विधेय का ही नष्ट करना है। इसके अतिरिक्त नन्द पण्डित ने भी "औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमकः सुतः" इस पराशरीय वाक्य की व्याख्या करते हुये "इति कलिधर्मप्रस्तावे पराशरस्मरणात्" लिखा है, जिससे सिद्ध है कि नन्द पण्डित की दृष्टि में भी पराशर स्मृति कलिधर्म का ही निरूपण करती है।

अच्छा इसको भी जाने दो, "जादू वह जो सिर पै चढ़ के बोले" स्वयं माधवाचार्य ही पराशरस्मृति के पहले अध्याय के तीसरे पद्य की व्याख्या करता हुवा लिखता है :—

"यद्यपि मन्वादयोऽपि कलिधर्माभिज्ञास्तथापि पराशरस्यास्मिन् विषये तपोविशेषबलादसाधारणः कश्चिदतिशयो द्रष्टव्यः ।"

भावार्थ—"यद्यपि मन्वादि भी कलिधर्म के जाननेवाले थे, तथापि तपोविशेष के कारण पराशर का इस विषय में असाधारण महत्व देखा जाता है ।"

तत्पश्चात् इसी अध्याय के ४४ वें पद्य की व्याख्या करता हुवा पुनरपि माधव लिखता है :—

"सर्वेष्वपि कल्पेषु पराशरस्मृतेः कलिधर्मपक्षपातित्वात् । प्रायश्चित्तेष्वपि कलिविषयेषु पराशरः प्राधान्येनादरणीयः ।"

भावार्थ—" सब कल्पों में पराशरस्मृति कलियुग के धर्म की पक्षपातिनी है, कलिसम्बन्धी प्रायश्चित्तों में भी पराशर प्रधानता से आदरणीय है । "

पाठक ! जो माधव स्वयं ही ग्रन्थारम्भ में बलपूर्वक यह कहता है कि पराशरस्मृति सब युगों में कलिधर्म का ही निरूपण करती है और यहाँ तक लिखता है कि कलियुग में प्रायश्चित्त भी उसी के अनुसार होने चाहियें, वही आगे चलकर यदि पुनर्विवाह को युगान्तरीय कहकर कलिवर्ज्य ठहराने लगे तो क्या उसका यह कथन (चाहे वह माधव हो या उद्धव) वदतोव्याघात या उन्मत्तप्रलाप नहीं समझा जायगा ?

हम यह कल्पना कर लेते हैं कि माधव ने सारी पराशरस्मृतिको कलियुगके लिये मानकर भी तत्प्रतिपादित पुनर्विवाह को कलिनिषिद्ध ठहराया है । हम मान लेते हैं कि स्वतन्त्र होने से प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि वह अपनी कुछ सम्मति रक्खे । पर कम से कम इसका कारण तो उसे बतलाना चाहिये था कि जिस सम्पूर्ण स्मृति को वह कलियुग के लिए मान चुका है, उसके केवल इन्हीं वचनों को उसे अपवाद मानने की आवश्यकता क्यों हुई ? अच्छा, हम कारण बताने के लिए भी उसे बाध्य नहीं कर सकते । हम केवल उसके कथनानुसार ही पराशर की उक्त आज्ञा को कलिनिषिद्ध मान लेते हैं, तब क्या विधवा के लिए ब्रह्मचर्य धारण करना और पतिका अनुगमन करना ये दोनों धर्म भी कलिनिषिद्ध माने जायेंगे ? यदि कहो कि नहीं, केवल स्त्री का पुनर्विवाह ही कलिवर्जित माना जायगा, अन्य नहीं । तो कैसे आश्चर्य की बात है कि तीन आज्ञाओं में से जो एक साथ दी गई हैं, केवल पहली आज्ञा को कलिनिषिद्ध ठहराया जाता है, दूसरी और

तीसरी का सम्बन्ध फिर कलियुग से जोड़ दिया जाता है। खूब ! पराशरस्मृति क्या हुई ? माधव की बालक्रीड़ा के लिए एक खिलौना हो गया, जहां चाहा उसे तोड़ दिया और जहां चाहा फिर जोड़ दिया।

और भी देखिए ! पहले अध्याय के १९ वें पद्य की व्याख्या करता हुवा माधव स्वयं लिखता है :—

"अतः कलौ प्राणिनां मयावलाध्ये धर्मे प्रवृत्त्यसम्भवाद् सुकरो धर्मोऽत्र वुभुत्सित इति"।

भावार्थ—अतएव कलियुग में प्राणियों की कठिन धर्म में प्रवृत्ति का होना असम्भव जान कर ही पराशरने उनके लिए सुगम धर्म का प्रतिपादन किया है।

सब जानते हैं कि आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करना अथवा जीवित ही अग्नि में प्रवेश करना ये कैसे कठिन और उग्र धर्म हैं। इनकी अपेक्षा पुनर्विवाह कितना सरल और सुसाध्य है। फिर आगे चलकर माधव का उसको युगान्तरीय कह कर कलिवर्ज्य ठहराना न केवल पराशर के उद्देश को ही नष्ट करता है, किन्तु स्वयं अपनी बार बार की हुई प्रतिज्ञा के विरुद्ध लिखकर अपनी साख को भी गंवाना है।

दूसरा आक्षेप कोई कोई यह भी करते हैं कि "नष्टे मृते प्रव्रजिते" यह पराशरीय वचन वाग्दत्ता कन्या से सम्बन्ध रखता है न कि विवाहिता से। उनका कथन यह है कि जिस कन्या का वाग्दान हो गया हो, पर विवाह न हुवा हो उसका उक्त पांच अवस्थाओं में दूसरा विवाह हो सकता है न कि विवाहिता का।

समीक्षा—यदि यहां वाग्दान का प्रकरण होता तो पराशर स्पष्ट लिखता, जैसा कि मनु ने वाग्दान के अनन्तर :—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ (१)

(मनु० ९-६९)

इस पद्य से नियोग का विधान किया है। पर पराशर-स्मृति में स्पष्ट तो क्या कहीं सांकेतिक रीति पर भी वाग्दानका उल्लेख नहीं है। दूसरे उक्त पद्य में प्रयुक्त हुवे 'पतौ' और 'नारीणाम्' शब्द इस शङ्का को उत्पन्न होने का अवकाश ही नहीं देते। क्योंकि पाणिग्रहण संस्कार के पहले न पुरुष किसी का पति कहलाता है और न स्त्री किसी की पत्नी। जैसा कि वसिष्ठ का कथन है:—

अद्भिर्वाचाच दत्तायां म्रियेताथो वरो यदि ।
न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेवसा ॥(२)

जब वसिष्ठ पाणिग्रहण के विना वाणी तो वाणी जल से दी हुई कन्या को कुमारी मानता है और लोकाचार भी ऐसा ही देखने में आता है। वाग्दान तो एक ओर बरातें जाकर लौट आती हैं और कन्या का विवाह दूसरे के साथ कर दिया जाता है। इस दशा में शास्त्र और लोकाचार दोनों के अनुसार न तो वाग्दत्ता का पति ही हो सकता है और न वह नारी ही कहला सकती है, क्योंकि नर की स्त्री होने से नारी कहलाती है। जब पराशर उक्त पद्य में स्पष्ट कहता है कि पति की पांच अवस्थाओं में नारी का अन्य पति हो सकता है, तब यहाँ

---

(१) जिस कन्या का वाग्दान के अनन्तर पति मरजावे उसको निम्न-लिखित विधान से उसका देवर प्राप्त करे।

(२) जल से या वाणी से दी हुई कन्या का वर यदि मर जाये, यदि उसका मन्त्रों से संस्कार न हुवा हो तो वह कुमारी है और पिता की है।

वाग्दान की कल्पना करना (जिसमें न तो पुरुष को पति संज्ञा होती है और न स्त्री की नारी) कैसी निर्मूल कल्पना है। माधवाचार्य ने भी यद्यपि युगान्तरीय कहकर इसको टाला है, पर वाग्दान की गन्ध इसमें उसको भी न आई, अन्यथा वह इसका उल्लेख अवश्य करता।

तीसरा आक्षेप कोई कोई यह भी करते हैं कि पराशर ने यह व्यवस्था द्विजों के लिए नहीं, किन्तु द्विजेतरों के लिए दी है, अतएव शूद्रों में इसके अनुसार स्त्री का पुनर्विवाह हो सकता है।

समीक्षा-पराशर तो आरंभ में जैसा कि हम उद्धृत कर चुके हैं यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं चारों वर्ण और चारों आश्रमों के धर्म वर्णन करूंगा, पर हमारा प्रतिवादी कहता है कि नहीं, इस पद्य में पराशर ने केवल शूद्रों के लिए व्यवस्था दी है। अच्छा यदि प्रतिवादी की प्रसन्नता के लिए हम इसे शूद्रों के लिए ही मान लें तो इस में 'पति' के 'प्रव्रजित, और 'पतित' दोनों विशेषण व्यर्थ हो जाते हैं। क्योंकि हिन्दू शास्त्र की मर्यादा के अनुसार न तो शूद्र को संन्यास ही लेने का अधिकार है और न वह पतित ही होसकता है। द्विज पतित होकर शूद्र बन सकता है, पर शूद्र पतित होकर क्या बनेगा? क्या पांचवां वर्ण कोई और भी है? जब शूद्र संन्यासी और पतित नहीं हो सकते, तब उनके लिए यह व्यवस्था कैसी? बिचारे माधवाचार्य को भी यह बात नहीं सूझी, नहीं तो वह कलिवर्ज्य के समान द्विजवर्ज्य भी इसको लिख देता।

चौथा आक्षेप कोई मनचले विपक्षी यह भी कर बैठते हैं कि पद्य के उत्तरार्द्ध में जो 'पति' शब्द आया है, उस के अर्थ संरक्षक के हैं, न कि भर्ता के। अर्थात् इन पांच अवस्थाओं में

स्त्री को अपना दूसरा संरक्षक बनाना चाहिये, न कि दूसरा पति करना चाहिए।

समीक्षा—जब पूर्वार्द्ध में 'पति' शब्द का अर्थ भर्त्ता विपक्षियों को भी स्वीकृत है, तब उत्तरार्द्ध में उस के विरुद्ध अर्थ की संभावना हो ही नहीं सकती। क्योंकि 'पति' शब्द का 'अन्य' विशेषण ही जो उत्तरार्द्ध में दिया गया है, उसको सापेक्ष सिद्ध कर रहा है। इस बात को सब जानते हैं कि पहले की अपेक्षा से दूसरा होता है। पहला पति यदि भर्त्ता है तो दूसरा संरक्षक कैसे हो जायगा? हाँ, यदि पहले को भी संरक्षक मान लो तो बात दूसरी है। इस दशा में इस व्यवस्था की ही कुछ आवश्यकता नहीं रहती। यदि पराशर को इन पांच अवस्थाओं में संरक्षक ही बनाना अभीष्ट होता तो वह "पतिरन्यो विधीयते' के स्थानमें "रक्षकोऽन्यो विधीयते" ही न लिखता? पुनरुक्त' पति' शब्द के साथ 'अन्य' शब्द का प्रयोग करना इस बात को सिद्ध करता है कि पूर्व पति के जो अधिकार और स्वत्व थे, वही इस दूसरे पति के भी होंगे।

एक बात और भी इसमें ध्यान देने योग्य है कि पूर्व पति के नपुंसक और पतित होने पर भी इस पद्य में दूसरा पति करने की आज्ञा दी गई है। यदि प्रतिवादी के कथनानुसार हम दूसरे पति का अर्थ संरक्षक ही मान लें, तो फिर प्रश्न यह है कि क्या नपुंसक और पतित अपनी स्त्री के संरक्षक नहीं बन सकते? यदि बन सकते हैं तो फिर ऐसी अवस्था में दूसरा संरक्षक बनाने की आज्ञा क्यों दी गई?

पांचवां आक्षेप कोई २ महात्मा यह भी करते हैं कि पद्य में पुनर्विवाह का विधान नहीं किन्तु निषेध है, और यह सिद्ध

करने के लिए वे पद्य के चतुर्थपाद का "पतिरन्योऽविधीयते" ऐसा पदच्छेद करने लगते हैं।

समीक्षा—प्रथम तो व्याकरण के नियमानुसार ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि आख्यातिक क्रिया के साथ "नञ्" का समास नहीं होता। यदि "अविधीयते" के 'अ' को 'नञ्' न मान कर निषेधार्थक अव्यय मानें तो फिर पूर्वरूप सन्धि न हो सकेगी। अतएव "अविधीयते" यह प्रयोग सर्वथा अशुद्ध है। यदि "तुष्यतु दुर्जनः" न्याय से हम इस असाधु प्रयोग को भी साधु मान लें, तो फिर अर्थापत्ति से इसका यह अर्थ होगा कि इन पांच दशाओं के अतिरिक्त दूसरा पति हो सकता है। अर्थात् पति के मरने पर तो स्त्री दूसरा विवाह न करे, पर उसके जीतेजी कर लेवे। इसी प्रकार उसके विवासित, विरक्त, नपुंसक और पतित होने पर तो वह विवाह का नाम न ले, पर इनके अभाव में उसे विवाह अवश्य करना चाहिए, पराये अपशकुन के लिए अपनी नाक कटाना इसी को कहते हैं। चाहे अनवसर प्राप्त पुनर्विवाह सिद्ध हो जाय, पर अवसरप्राप्तका खण्डन हम अवश्य करेंगे। इसी प्रकार के कुतर्कों से हमारे भाई विधवाविवाह को शास्त्रविरुद्ध सिद्ध करना चाहते हैं।

छठा आक्षेप एक यह भी किया जाता है कि इस पद्य में सप्तमी के एकवचन में जो 'पतौ' प्रयोग दिया गया है, वह व्याकरण के नियमानुसार अशुद्ध है, 'पत्यौ' होना चाहिये था, अतएव यह माननीय नहीं हो सकता।

समीक्षा—यद्यपि 'पतौ' प्रयोग व्याकरण की रीति से अशुद्ध है, तथापि पद्यात्मक ग्रन्थों में व्याकरण से अधिक छन्दोनियमों का ध्यान रक्खा जाता है। छन्दोनियम के अनुसार यहां 'पत्यौ' हो नहीं सकता था, अतएव छन्दोभङ्ग दोष से

पद्य को बचाने के लिए ग्रन्थकार को विवश होकर 'पतौ' प्रयोग देना पड़ा। नारदस्मृति के पद १२ में और अग्नि-पुराण के अध्याय १५४ में भी यह पद्य आया है, वहां भी ऐसा ही पाठ है और इसी पराशरस्मृति के दसवें अध्याय के २७ वें पद्य में भी यही पद प्रयुक्त हुआ है। सो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि संस्कृत का कोई पद्यात्मक ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जिसमें व्याकरण की ऐसी त्रुटियां न हों। महा-भारत, रामायण और भागवत आदि ग्रन्थों में भी कहीं २ ऐसे व्याकरणनियमविरुद्ध प्रयोग आ जाते हैं, पर वे आर्ष होने से प्रमाण मान लिए जाते हैं कोई उनको असाधु प्रयोग नहीं कह सकता। पराशर भी ऋषि थे, इसलिए उनका प्रयोग भी आर्ष होने से साधु है।

सातवाँ आक्षेप—कोई २ यह भी करते हैं कि पद्योक्त पाँच दशाओं में पराशर ने नियोग की आज्ञा दी है, न कि पुनर्वि-वाह की। इसलिए इन पांच दशाओं में नियोग होना चाहिये, न कि पुनर्विवाह।

समीक्षा—यह आक्षेप उन लोगों की ओर से किया जाता है जिन्होंने प्रतिज्ञा कर ली है कि चाहे सब कुछ शास्त्र से सिद्ध हो जाय, पर जहाँ तक हमारा बस चलेगा हम विधवाविवाह को शास्त्र से सिद्ध न होने देंगे। जहां विधवाविवाह का प्रसंग न हो वहां तो नियोग को पशुधर्म बतलाया जाता है और जहां उसका प्रसंग हो वहां उसकी आड़ ली जाती है। पर यहां पर इस आड़ लेने से भी काम न चलेगा; क्योंकि नियोग में तो पतिपत्नीभाव ही नहीं होता, उसमें सन्तानार्थ केवल वीर्य-दान दिया और लिया जाता है। नियुक्त पुरुष न तो स्त्री का पति हो सकता है और न नियुक्ता स्त्री उसकी पत्नी ही कहला

सकती है और न किसी शास्त्र में उनके पतिपत्नीधर्म के पालन करने की आज्ञा है। परन्तु इस पद्य में पराशर ने स्पष्ट ही पुरुष के लिए 'पति' और स्त्री के लिए 'नारी' शब्द का प्रयोग किया है, जो दोनों के पतिपत्नी सम्बन्ध को सूचित करता है। यदि पराशर को नियोग की ही आज्ञा देनी अभीष्ट होती तो वह 'पतिरन्यो विधीयते' के स्थान में 'सन्तानोत्पत्ति रिष्यते' न लिखता। अतएव पद्य में पत्यंतर का विधान करने से पराशरको पुनर्विवाह ही इष्ट है न कि नियोग।

नियोग की प्रथा चाहे पूर्वकाल में यहां प्रचलित रही हो और उसके उदाहरण भी महाभारतादि ग्रन्थों में कहीं कहीं पाये जाते हों, पर आधुनिक सभ्यता किसी दशा में भी उसे स्वीकार नहीं कर सकती। अतएव किसी शास्त्र में यदि उसका विधान भी हो तो भी इस समय वह हमारे लिए उपेक्षणीय है। पर पराशरस्मृति में तो उसका कहीं गन्ध भी नहीं।

मानवधर्मशास्त्र और विधवाविवाह।

वर्त्तमान मनुसंहिता।

विधवाविवाह के विपक्षी मनुस्मृति पर बड़ा जोर देते हैं और कहते हैं कि चाहे पराशरादि अन्य स्मृतिकारों ने विधवा-विवाह का किसी अंश में विधान भी किया हो, पर वह मनुस्मृति के विरुद्ध होने से माननीय नहीं हो सकता। मनु के प्राधान्य में वे बृहस्पति का यह वचन प्रस्तुत करते हैं :—

वेदार्थोपनिबंधृत्वात्प्राधान्यं हि मनोःस्मृतम् ।
मन्वर्थविपरीता या सास्मृतिर्न प्रशस्यते ॥

इस पर हमारा यह वक्तव्य है। यद्यपि यह निर्णय करना कि जो ग्रन्थ आजकल मनुस्मृति के नाम से प्रसिद्ध है, जिस में १२ अध्याय और २६८५ पद्य हैं, वही मनु का बनाया हुवा है, बड़ा कठिन है। हमारे सन्देह के ये कारण हैं :—

प्रथम तो इसमें "मनुरब्रवीत्" "मनुरकल्पयत्" इत्यादि वाक्य ही सिद्ध कर रहे हैं कि यह ग्रन्थ मनु का बनाया हुआ नहीं है, किन्तु मनु के नाम से संग्रह किया गया है, क्योंकि मनु स्वयं अपने निर्मित ग्रन्थ में ऐसा नहीं लिख सकता। दूसरे इसकी नवीन शैली की पद्यरचना तथा इसमें वेन, नहुष, पृथु, सुदास, निमि और यवन आदि राजाओं का उल्लेख होने से भी यह बात अवगत होती है कि यह ग्रंथ बहुत प्राचीन नहीं है। तथापि हम इस विषय पर कि यह ग्रंथ कब और किसने बनाया विवाद करना नहीं चाहते। हम मान लेते हैं कि यह मनु का ही बनाया हुवा है और बहुत प्राचीन है। यह मान लेने पर भी इसकी उपयुक्तता तब तक सिद्ध नहीं हो सकती, जब तक कि इसके सिद्धान्त लोगों को मान्य और ग्राह्य न हों। प्रत्यक्ष है कि मनु के बहुत से सिद्धान्त आजकल समाज को अग्राह्य हैं। चाहे अपने पूर्वजों का आदर करते हुवे वाणी से हम उनका तिरस्कार न करें, किन्तु अपने को ही उनके अयोग्य सिद्ध करें, पर समाज की वर्तमान अवस्था में किसी प्रकार भी हम उनको अपने आचरण में नहीं ला सकते। उदा-

---

* वेदार्थ का अनुसरण करने से स्मृतिकारों में मनु प्रधान है, मनु के विरुद्ध स्मृति प्रशस्त नहीं है।

हरणार्थ हम मनु के कुछ नियम यहां पर देते हैं, जो आजकल हिन्दूसमाज में अप्रचलित ही नहीं किन्तु घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं । वाग्दत्ता कन्या के विषय में मनु लिखता है :—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥
यथाविध्यधिगम्यैनां, शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।
मिथो भजेदाप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥
न दत्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः ।
दत्वा पुनः प्रयच्छन्हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥(१)

(मनु० ९ । ६९–७०–७१)

इन पद्यों में मनु ने वाग्दान के अनन्तर यदि वर की मृत्यु हो जाय तो पुनः कन्या के विवाह का निषेध किया है और उसको देवर के साथ नियोग करने की आज्ञा दी है, पर आज कल कोई भी हिन्दू मनु की इस कठोर आज्ञा को नहीं मानता और हम समझते हैं, जब से इतिहास का आरम्भ हुआ है, कभी यह आज्ञा नहीं मानी गई । इसके विरुद्ध आज कल हिन्दूसमाज में सर्वत्र वसिष्ठ की आज्ञा मानी जाती है, जो इस प्रकार है :—

---

(१) जिस कन्या का वाग्दान के अनन्तर पति मर जाय, उसको निम्न विधि से देवर प्राप्त करे ॥६९॥ इस शुक्ल वस्त्र और पवित्र व्रत वाली स्त्री को गर्भधारण होने पर्यन्त प्रत्येक ऋतुकाल में एक २ बार गमन करे ॥७०॥ कन्या को किसी को देकर फिर न दे, देकर देनेवाला अनृत का भागी होता है ॥७१॥

अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेताथो वरो यदि ।
न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा ॥
यावच्चेदाहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता ।
अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा ॥ (१)

(वसिष्ठस्मृति १७ । ६४-६५)

वसिष्ठ इन पद्यों में वाग्दत्ता ही नहीं, किन्तु उदकस्पर्शिता कन्या के भी पुनर्विवाह की आज्ञा देता है और स्पष्ट कहता है कि जब तक मन्त्रोच्चारण पूर्वक पाणिग्रहण संस्कार न हो, तब तक वह कन्या है, उसका दूसरे के साथ विवाह कर देना चाहिये । यम और गौतम भी वसिष्ठ के मत की पुष्टि करते हैं । यथा :—

नोदकेन न वाचा वा कन्यायाः पतिरिष्यते ।
पाणिग्रहणसंस्कारात्पतित्वं सप्तमे पदे ॥ (२)

(यमस्मृति)

गौतम भी अपनी स्मृति में इसी की पुष्टि करता है :-

प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात् । (३)

(गौतमस्मृति)

---

(१) जल से और वाणी से दी हुई कन्या का वर यदि मर जाय और उसका मन्त्रों से संस्कार न हुवा हो तो वह कुमारी है ॥६४॥ जब तक लाई हुई कन्या मन्त्रों से संस्कार न की गई हो विधिपूर्वक वह अन्य को देना चाहिए, क्योंकि जैसी कन्या वैसी वह ॥ ६५ ॥

(२) जल से या वाणी से कन्या का पति नहीं होता, पाणिग्रहण संस्कार से सप्तपदी होने पर पति होता है ।

(३) प्रतिज्ञा करके भी अधार्मिक को कन्या न देवे ।

पाठक देखें, इन दोनों ऋषियों की आज्ञा में कितना अन्तर है। कहना नहीं होगा कि आजकल का लोकाचार वसिष्ठ की आज्ञा का अनुसरण करता है, मनु की आज्ञा को उसने ताक़ में धर दिया। इसी प्रकार मनु के नवें अध्याय में जो दायभाग के नियम दिये गये हैं, हिन्दुओं में वे आजकल कहीं नहीं माने जाते और न वे वर्तमान परिस्थिति में मानने के योग्य ही हैं। इस विषय में प्रचलित हिन्दूला भी याज्ञवल्क्य और मिताक्षरा के नियमों का किसी अंश तक अनुसरण करता है, जो कि मनु की अपेक्षा कुछ सुधरे हुवे हैं। मनु की क्रूरता का सबसे अधिक परिचय हमको आठवें अध्याय में मिलता है, जहां उसने शूद्रों के लिए सामान्य अपराधों में भी ऐसे लोमहर्षण दण्डों का विधान किया है, जिनको स्मरण करके शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और इस बीसवें शतक में किसी मनुष्य के ध्यान में भी यह बात नहीं आ सकती कि कभी ऐसी दण्डविधि यहां प्रचलित रही हो। देखिए! ब्राह्मण के पास बैठने की इच्छा करने मात्र से मनु ने शूद्र के लिए कैसा भीषण दण्ड लिखा है:—

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्त्तयेत् ॥(१)

(मनु० ८–२८१)

इसी मनुस्मृति में स्त्रीजाति के प्रति जैसे उद्गार प्रकट किये गये हैं और सती, सीता तथा सावित्री की उत्तराधिकारिणियों पर जो मिथ्यापवाद लगाये गये हैं यदि आजकल

(१) अन्त्यज यदि अग्रज के साथ एक आसन पर बैठना चाहे तो उसकी कमर में दाग़ देकर निर्वासित कर देना चाहिये या उसकी चमड़ी काट देनी चाहिए।

कोई ऐसा करता तो हम उसका सिर कुचलने के लिए तय्यार हो जाते। पर जैसे गङ्गा में मिलकर मैला भी पवित्र हो जाता है, ऐसे ही धर्मशास्त्र में स्थान पाकर ऐसे मलिन विचार भी आज हिन्दूसमाज में किसी को नहीं खटकते। हम उनकी बानगी भी पाठकों को दिखलाते हैं :—

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥
पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः ।
रक्षिता यत्नतोपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥
एवं स्वभावं ज्ञात्वासां प्रजापतिनिसर्गजम् ।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥
शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् ।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥
नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः ।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥(१)

(म० ९ । १४–१८)

(१) ये स्त्रियां रूप को नहीं देखतीं, न इनकी आयु में आस्था होती है, सुरूप हो या कुरूप, पुरुष को भोगती हैं ॥१४॥ पुंश्चलीपन से, चित्त के चाञ्चल्य से और स्वभाव से ही स्नेहरहित होने से ये पतियों से द्वेष करती हैं ॥१५॥ ईश्वर का बनाया हुआ इनका ऐसा स्वभाव जान कर पुरुष इनकी रक्षा में अत्यन्त यत्नवान् हो ॥१६॥ सोना, बैठना, शृंगार करना, रूठना, कुटिलता, द्रोह और कुचर्या स्त्रियों के लिए मनु ने बनाये हैं ॥१७॥ स्त्रियों के संस्कार मन्त्रों से नहीं होते यह धर्म की व्यवस्था है। स्त्रियां इन्द्रिय और मन्त्र दोनों से रहित होने के कारण असत्य हैं ॥१८॥

पाठक ! ये पवित्र उद्गार हैं जो हमारे इस प्रधान धर्म-शास्त्र की शोभा को बढ़ा रहे हैं। इस दशा में बृहस्पति का यह लिखना कि मनु के विरुद्ध जो स्मृतियां हैं, उनका प्रमाण नहीं मानना चाहिये, ठीक नहीं। हमारे लिए सब ही ऋषि माननीय हैं, जिनके वचन मनु की ही बतलाई हुई चार कसौ-टियों के अनुकूल हैं वे चाहे मनु के हों, या वसिष्ठ के, याज्ञ-वल्क्य के हों, या पराशर के, हमारे लिए माननीय हैं। उनकी उपयुक्तता नाम से नहीं, किन्तु काम से देखी जायगी। यदि मनु के कोई सिद्धान्त काम से हमारे वर्त्तमान समाज के अनुकूल नहीं हैं, तो हम केवल मनु के नाम से उनको समाज में प्रतिष्ठित नहीं करा सकते। समाज धर्मशास्त्र के उन्हीं आदेशों का पालन कर सकता है, जो उसकी वर्तमान स्थिति और मर्यादा के प्रतिकूल न हों।

एक बात और ध्यान देने योग्य है, यदि मनु के ही नियम हमारे लिए पर्याप्त होते तो उनकी विद्यमानता में अन्य स्मृतियों की आवश्यकता ही क्या थी? फिर ये मनु के अतिरिक्त २० या २८ स्मृतियां क्यों बनाई गईं? इसी प्रसङ्ग में एक प्रश्न यह भी होता है कि ख़ास कलियुग के लिए पराशर-स्मृति की रचना क्यों की गई? इस प्रश्न का उत्तर भी सिवाय इसके और क्या हो सकता है कि जब समय के प्रभाव से सभ्यता का परिवर्त्तन हुआ, तब उस समय के देशकालज्ञ विद्वान् लोगों ने समाज में मनूक्त नियमों के पालन करने की क्षमता न देखकर ही समयानुसार सरल नियम बनाये और मनु के नियमों को कठिन समझकर ही उन्होंने कृतयुग के लिए रक्खा। जैसा कि हम पूर्व प्रकरण में पराशर और माधव के लेखों से सिद्ध कर चुके हैं, उनको जाने दीजिये खुद

बृहस्पति भी जिसके प्रमाण से मनु की श्रेष्ठता सिद्ध की जाती है, कलियुग के लिए उसे अशक्य ठहराता है :—

उक्तो नियोगो मनुना निषिद्धः स्वयमेवतु ।
युगह्रासादशक्योऽयं कर्तुमन्यैर्विधानतः ॥
तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतादिके नराः ।
द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता ॥
अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिर्ये पुरातनैः ।
अशक्यास्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः ॥ (१)

(बृहस्पति स्मृति १४ । १२-१३-१४)

इन पद्यों में बृहस्पति स्पष्ट कहता है कि यदि कृतादि के धर्म कलियुग में अनुष्ठेय होते तो मनु नियोग का विधान करके स्वयं उसका निषेध न करता । कृतादि के लोगों में अनेक प्रकार के पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति थी, पर कलियुग के शक्तिहीन लोग वैसा नहीं कर सकते । इससे सिद्ध है कि नियोग आदि के द्वारा सन्तान उत्पन्न करना कृतादि के लिये था, कलियुग के लिए उन उपायों को उचित न समझ कर ही ऋषियों ने पुनर्विवाह की आज्ञा दी है ।

मनुस्मृति में विधवाविवाह की आज्ञा ।

चाहे मनुस्मृति का सम्बन्ध किसी युग से हो और चाहे

(१) मनु ने जो नियोग का विधान करके पुनः उसका निषेध किया उसका कारण यह है कि आजकल के लोगों से उसका पालन करना अशक्य था ॥१२॥ कृत और त्रेतादि युगों में मनुष्य तप और ज्ञान से युक्त होते थे, द्वापर और कलियुग में उस शक्ति की हानि होगई ॥१३॥ प्राचीन ऋषियों ने अनेक प्रकार के पुत्र उत्पन्न किये, आजकल के शक्तिहीन लोग वैसा नहीं कर सकते ॥१४॥

उसके बहुत से धर्म इस समय हमारे लिए अशक्य हों, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसमें विधवाविवाह की स्पष्ट और असन्दिग्ध आज्ञा है और उस आज्ञा का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि उसमें नियोग के समान विधवाविवाह का कहीं निषेध नहीं है। देखिये ! अक्षतयोनि विधवाओं के पुनः संस्कार की मनु कितनी स्पष्टता से आज्ञा देता है :—

सा चेदक्षतयोनिःस्याद् गत प्रत्यागतापि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनःसंस्कारमर्हति ॥

(मनु० ९-१७६)

इसका अर्थ हम अपनी ओर से कुछ न करेंगे, किन्तु मनुस्मृति के पांचों प्रसिद्ध टीकाकारों ने जो इसका अर्थ किया है उसीका अक्षरशः अनुवाद हम उद्धृत कर देते हैं :—

सर्वज्ञनारायण—"पति ने संस्कार करके जिसको त्याग दिया हो या जिसको पिता ने किसी और के लिये देना स्वीकार किया हो और अपनी इच्छा से उसने किसी अन्य के साथ विवाह कर लिया हो, पुनः वह उसको छोड़ कर पितानुमोदित वर के पास आवे। यदि उसका पति के साथ समागम न हुआ हो तो वह पौनर्भव पति के साथ पुनःसंस्कार के योग्य है।"

कुल्लूक—"वह स्त्री यदि अक्षतयोनि हो और अन्य का आश्रय करै तो पौनर्भव भर्त्ता के साथ पुनः संस्कार कर देने योग्य है। यद्वा कुमारपति को छोड़ कर अन्य का आश्रय करै और फिर उसी कुमारपति के पास आ जावे तो उसके साथ उसका पुनः संस्कार होना चाहिये।"

राघवानन्द—" जिस कुमारपति को छोड़ कर गई हो, युवावस्था में फिर उसी के पास आवै या किसी दूसरे के पास जावे, दोनों के 'पुनर्भू' भर्त्ता होने से उसका पुनर्विवाह हो सकता है। वा अव्यय से क्षतयोनि भी संस्कार के योग्य है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने क्षता और अक्षता दोनों प्रकार की स्त्रियों का जो कामवासना से पति का त्याग करती हैं, पुनः

संस्कार कहा है। ज्ञाति और धन गर्व से जो स्त्री पति का त्याग करे उसे कुत्तों से नुचवाना चाहिये, पर जो काम के वेग से ऐसा करे वह क्षम्य है क्योंकि काम स्वाभाविक है।"

नन्दन—"पति के घर से गई हुई और फिर आई हुई स्त्री यदि अक्षतयोनि हो तो पुनर्भू पति के साथ संस्कार के योग्य है।"

रामचन्द्र—"वह पुनर्विवाह करनेवाली यदि अक्षतयोनि हो और पति के घर जाकर लौट आई हो तो वह पौनर्भव भर्त्ता के साथ पुनः संस्कार चाहती है।"

देखा पाठक! मनु के उक्त प्रमाण से अक्षतयोनि विधवा का पुनर्विवाह तो पांचों टीकाकारों को सम्मत है। पर राघवानन्द वा अव्यय से क्षतयोनि विधवा का भी पुनर्विवाह सिद्ध करता है और अपने कथन की पुष्टि में याज्ञवल्क्य का प्रमाण उद्धृत करता है। इसलिए उसकी सम्मति विशेष ध्यान देने योग्य है। साथ ही उसकी दृष्टि में काम का वेग स्वाभाविक होने से दुर्धर्ष है, अतएव उसके कारण यदि कोई स्त्री पति का त्याग करती है, तो वह क्षम्य है। पर जो अपने ज्ञाति एवं धन के गर्व से ऐसा करती है, उसे वह क्षमा नहीं करता। इससे अधिक स्पष्ट और विधवाविवाह का विधान क्या हो सकता है? इस पर भी जो लोग विधवाविवाह को मनुविरुद्ध कहते हैं उनके हठ और दुराग्रह का क्या ठिकाना है?

विपक्षियों की शंकायें।

अच्छा अब हमारे विपक्षी इस पर क्या कहते हैं ज़रा उनकी भी तो सुननी चाहिये :—

पहला आक्षेप तो उनका यही है कि यह कलिवर्ज्य है। मनु ने कृतयुग के लिए विधवाविवाह या नियोग का विधान किया था, कलियुग से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है।

समीक्षा—जब सारी मनुस्मृति पराशर के वचनानुसार कृत-युग के लिए है तो यह कैसे हो सकता है कि उसमें प्रतिपादित केवल विधवाविवाह या नियोग का सम्बन्ध तो कृतयुग से जोड़ा जाय और अन्य सारे धर्म कलियुग से लागू हो जांय? मालूम नहीं कलियुग में और विधवाविवाह में वह कौन सा नाड़ीवेध है जिस के कारण इनका कहीं भी साम्य नहीं होने पाता। यदि कृतयुग की स्मृति में इसका विधान आता है, तब तो इसके विपक्षी यह कहते हैं कि इसका कलियुग से कुछ सम्बन्ध ही नहीं। चाहे उस स्मृति की और सब बातें कलियुग की सहचरी हो जांय, पर उसको छूत केवल विधवाविवाह की लगती है और यदि कलियुग की स्मृति में इसका विधान होता है, तब भी आश्चर्य है कि युगांतरीय का फांसा इसी के ऊपर पड़ता है और यही कलिवर्ज्य कहकर वहां से भी हटाया जाता है। मानो कलियुगने और तो सब बातों का ठेका लिया हुआ है, पर इसकी नहीं पटती केवल विधवाविवाह से, इस लिए ख़ास कलियुग की स्मृति में विधान होते हुवे भी इसका बहिष्कार किया जाता है।

अब प्रश्न यह होता है कि इसको कलिवर्ज्य किसने ठह-राया है? मनुस्मृति में तो कहीं नहीं लिखा कि यह कलिवर्ज्य है, न पराशरस्मृति में ही कहीं ऐसा उल्लेख है। फिर यह कलिवर्ज्य की कल्पना किसने की? इसका उत्तर यह है कि किसी २ पुराण में कुछ वचन ऐसे मिलते हैं, जिनमें बहुत सी और बातों के साथ विधवाविवाह को भी कलिवर्ज्य ठहराया गया है, वे प्रमाण और उनकी सविस्तर आलोचना तो दूसरे अध्याय में की जायगी। यहां केवल इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि पुराणों में जितनी बातें कलिवर्ज्य ठहराई गई हैं,

यदि उन में से बहुत सी बातें कलियुग में न केवल मानी जाती हैं किन्तु सनातन धर्म का अङ्ग समझी जाती हैं, तो फिर केवल विधवाविवाह के लिए कलियुग का पचड़ा लगाना सिवाय हठ और दुराग्रह के और क्या हो सकता है ?

दूसरा आक्षेप यह है कि मनु ने पौनर्भव भर्त्ता के साथ विधवा के पुनःसंस्कार की आज्ञा दी है। पौनर्भव वह है जो पुनर्भू स्त्री से उत्पन्न होता है, उसको मनु ने दायाद नहीं माना और कश्यप ने पुनर्भू कन्याओं को अधम और विवाह के अयोग्य लिखा है। यथा :—

> सप्त पौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः कुलाधमाः।
> वाचादत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमङ्गला ॥
> उदकस्पर्शिता याच याच पाणिगृहीतिका।
> अग्निं परिगता याच पुनर्भूप्रभवा च या ॥ (१)
>
> (स्मृतितत्वधृतकाश्यपवचन)

समीक्षा—इस आक्षेप में पुनर्विवाह की आज्ञा तो विपक्षियों को स्वीकृत है, पर वे इसलिए उसको अच्छा नहीं मानते कि कश्यप ने पुनर्भू स्त्री को अधम और विवाह के अयोग्य लिखा है, तथा मनु ने पौनर्भव पुत्र को दायभागी नहीं माना। कैसे आश्चर्य की बात है कि कन्या तो विना विवाह के अपने मन और वाणी से नहीं, किन्तु दूसरों के मन और वाणी से दी हुई भी पुनर्भू मानी जाय, पर पुरुष स्वेच्छा और विषयवासना की

---

(१) सात पौनर्भव कन्यायें कुल में अधम तथा विवाह में वर्जनीय हैं, १ वाणी से दी हुई, २ मन से दी हुई, ३ कंगना बन्धी हुई, ४ जल से स्पर्श की गई, ५ पाणिग्रहण की हुई, ६ अग्नि में प्रदक्षिणा की हुई, ७ पुनर्भू से उत्पन्न हुई।

तृप्ति के लिए तीन २ और चार २ विवाह करके भी स्वयम्भू बना रहे, इस अन्धेर का भी कुछ ठिकाना है ? यदि पुनर्भू होना वास्तव में निन्दनीय है तो यह दोष स्त्री पुरुषों में समान है। जिस समाज या धर्म में आठ २ या दस २ वर्ष की अबोध कन्यायें किसी स्वकृत अपराध के कारण नहीं, किन्तु समाज के अत्याचार और संरक्षकों के प्रमाद के कारण विवाह के अयोग्य समझी जावें, क्या वह समाज या धर्म बहुत दिन तक संसार में रह सकता है ? अब इस प्रकाश के युग में हम ऐसे अनर्गल वचनों से (चाहे वे कश्यप के नाम से हों या भरद्वाज के) उस अमानुषिक अत्याचार को जो स्त्रीजाति के प्रति किया जा रहा है, बहुत दिनों तक जारी नहीं रख सकते। अच्छा, अब हमें जरा इस वाक्य की पड़ताल भी तो करने दीजिये।

इस वाक्य में जो सात प्रकार की पौनर्भव कन्या मानी गई हैं, वे सब अधम और विवाह के अयोग्य बतलाई गई हैं। पर आधुनिक हिन्दूसमाज में पहली चार प्रकार की कन्यायें, अर्थात् (१) वाचादत्ता (२) मनोदत्ता (३) कृत-कौतुकमङ्गला (४) उदकस्पर्शिता, ये न तो पुनर्भू मानी जाती हैं और न उनका विवाह ही निषिद्ध समझा जाता है। जब चार बातों के लिए हिन्दूसमाज ने कश्यप की आज्ञा को ताक़ में धर दिया, तब शेष तीन बातों के लिए भी वह बहुत दिन उसका अनुसरण करेगा, इसकी आशा नहीं हैं। इसके विरुद्ध नारदस्मृति में जो तीन प्रकार की पुनर्भू कन्या मानी गई हैं, उनके विवाह की नारद ने स्पष्ट आज्ञा दी है :—

कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता ।
पुनर्भूः प्रथमा प्रोक्ता पुनः संस्कारकर्मणा ॥

कौमारं पतिमुत्सृज्य यात्वन्यं पुरुषं श्रिता ।
पुनः पत्युर्गृहमियात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
असत्सु देवरेषु स्त्री बान्धवैर्या प्रदीयते ।
सवर्णाय सपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥ (१)

(नारदस्मृति १२ । ४६-४७-४८)

नारद के ही समान याज्ञवल्क्य भी पुनर्भू के विवाह की (चाहे वह क्षता हो वा अक्षता) स्पष्ट आज्ञा देता है :—

"अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः" । (३-६७) (२)

पाठक ! देखिये इन दोनों में अर्थात् कश्यप और नारद में कितना अन्तर है ? पहला तो वाणी और मन से दी हुई को भी विवाह के अयोग्य बतलाता है । दूसरा पति को छोड़कर अन्य का आश्रय लेनेवाली के भी विवाह की आज्ञा देता है । बतलाइये ! अब हम किसकी आज्ञा को मानें ? पर इसका निर्णय करने से पूर्व इस बात का ध्यान रहे कि यह कश्यप न तो याज्ञवल्क्य निर्दिष्ट २० स्मृतिकारों में है और न इसकी कोई अन्य स्मृतिकार पुष्टि ही करता है । इसके विपरीत नारदस्मृति

(१) जिसका पति के साथ समागम नहीं हुआ, केवल पाणिग्रहण संस्कार हुआ है, वह कन्या के समान पुनःसंस्कार के द्वारा पहली पुनर्भू है ॥४६॥ जो कुमारी पति को छोड़ कर अन्य पुरुष का आश्रय करे और फिर पति के घर में आवे, वह दूसरी पुनर्भू है ॥४७॥ देवरों के न होने पर जो बान्धवों से सवर्ण और सपिण्ड वर के लिए दी जाती है, वह तीसरी पुनर्भू है ॥४८॥

(२) अक्षता हो वा क्षता, पुनः संस्कार की हुई 'पुनर्भू' है ।

यही नहीं कि मनुस्मृति का सार है, किन्तु याज्ञवल्क्य जैसा प्रसिद्ध स्मृतिकार उसकी पुष्टि भी करता है ।

अब रही यह बात कि मनु ने पौनर्भव पुत्र को दायाद नहीं माना है। प्रथम तो १२ प्रकार के पुत्र जो मनु ने वर्णन किये हैं, वे कलियुग के लिए नहीं हैं। हम बृहस्पति के प्रमाण से यह बात दिखला चुके हैं कि पूर्व युग के लोगों में अनेक प्रकार के पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति थी। कलियुग में उस शक्ति का ह्रास हो गया है और यही कारण है कि पराशर ने अपनी स्मृति में जो कलियुग के लिए बनाई गई है। केवल तीन ही प्रकार के पुत्रों का उल्लेख किया है। अतएव कलियुग में पुनर्विवाह से उत्पन्न सन्तान भी औरस ही मानी जाती है, जिस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि पुरुष पुनर्विवाह से जो सन्तान उत्पन्न करते हैं, उसको कोई पौनर्भव नहीं कहता, यद्यपि वह पुनर्भू पुरुष से उत्पन्न है, तथापि वह औरस कहलाती है। फिर कोई कारण नहीं है कि स्त्रियाँ पुनर्विवाह से जो सन्तान उत्पन्न करें, वह औरस न कहलावे। यदि हम उसको पौनर्भव भी मान लें, तब भी विपक्षियों का यह कहना कि मनु ने पौनर्भव को दायाद नहीं माना, सर्वथा अयुक्त है। एक मनु ने ही नहीं, किन्तु मनु, वसिष्ठ और याज्ञवल्क्य इन तीनों प्रसिद्ध स्मृतिकारों ने पौनर्भव को केवल दायाद ही नहीं किन्तु पिण्डदाता भी माना है। देखो मनुस्मृति अ० ९ पद्य १८० और १८५ तथा वसिष्ठस्मृति अ० १७ प० १९-२०-२१ और याज्ञवल्क्य स्मृति अ० २ प० १२२ ।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। यदि मनु कश्यप के समान पुनर्भू कन्या के विवाह को हीन या वर्जनीय मानता तो पुनः शब्द के साथ संस्कार शब्द का प्रयोग न करता।

मनु ने तथा अन्य स्मृतिकारोंने भी पुनर्विवाह के लिए निःशङ्क होकर संस्कार शब्द का प्रयोग किया है। अतएव पुनर्विवाह में दोष की कल्पना करना 'संस्कार' जैसे धार्मिक और पवित्र शब्द का अपमान करना है। यह बात दूसरी है कि प्रथम संस्कार की अपेक्षा पुनः संस्कार कुछ उदास माना जावे। क्यों कि पहिला विवाह चाहे पुरुष का हो या स्त्री का, जिस इच्छा और उत्साह से किया जाता है, दूसरे में उसका न होना स्वाभाविक ही है। पर विना संस्कार के स्त्री पुरुषों का परस्पर सङ्गत होना या स्वाभाविक कामवृत्ति को चरितार्थ करना पशुधर्म है। इसलिए क्या शास्त्रमें और क्या शिष्ट लोगों के आचार में दाम्पत्य के पवित्र सम्बन्ध को स्थापन करने से पूर्व संस्कार का होना आवश्यक माना गया है। जो लोग बालविधवाओं के लिए संस्कार को अनावश्यक समझते हैं, वे जान बूझ कर उनको पशुधर्म में प्रवृत्ति दिलाते हैं। क्योंकि भय या दबाव से मनुष्य के स्वाभाविक वेग रोके नहीं जा सकते, किन्तु रुके हुवे जल की भाँति वे समाज में दुर्गन्ध फैलाने का कारण होते हैं।

मनुवाक्यों का दुरुपयोग

अब हम यह देखना चाहते हैं कि आखिर मनुस्मृति में विधवाविवाह के विरुद्ध वे कौन से प्रमाण हैं, जिनपर इसके विपक्षी इतनी उछल कूद मचाते हैं। पहला प्रमाण उनकी ओर से यह दिया जाता है :—

> कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
> नतु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥ (१)

(मनु ५। १५७-१५८)

समीक्षा—इन पद्यों में मनु ने उन स्त्रियों के लिए जो ब्रह्मचर्य धारण करके एक पत्नीव्रत का पालन करना चाहती हैं पत्यन्तर का निषेध किया है। इसको उन बालविधवाओं से लागू करना जो अभी यह भी नहीं जानतीं कि पति किसको कहते हैं और एकपत्नीधर्म क्या वस्तु है सर्वथा अनुचित और असंगत है। क्योंकि दूसरे पद्य के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट कहा गया है कि जो एकपत्नी धर्म का पालन करना चाहती है, वह आजीवन ब्रह्मचर्य्य का पालन करे। हमारे इस कथन की पुष्टि मनु का भाष्यकार नन्दन भी करता है, जो नवें अध्याय के ७६वें पद्य की टीका में स्पष्ट लिखता है :—

"यत्तु मृतभर्तृकाणां ब्रह्मचर्यवचनं तत्फलातिशयकामानाम्, नान्यासामिति।"

भावार्थ—विधवाओं के लिए जो ब्रह्मचर्य की आज्ञा है, वह उन्हीं के लिए है, जो विशेष फलकी कामना करती हैं, न कि औरों के लिये।

इसी फलातिशय की कामना से बहुत से पुरुष नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण करते हैं, तो क्या इससे उनका विवाह करने का अधिकार जाता रहता है? अतएव बालविधवायें तो एक

---

(१) कन्दमूल फलों से देह को भले ही क्षीण करदे, किन्तु पति के मरने पर दूसरे का नाम भी न ले॥१५७॥ एकपत्नी का जो धर्म है, उसको चाहती हुई नियमपूर्वक ब्रह्मचारिणी होकर मरणपर्य्यन्त तितिक्षा को धारण करे॥१५८॥

तरफ, जो स्त्रियां संसार का सुख भोगना चाहती हैं और ब्रह्मचर्य में जिनकी निष्ठा नहीं है, उनके लिए भी ज़बर्दस्ती इस नियम को लागू बनाना न केवल उनके प्रति अन्याय है, अपितु इस पवित्र धर्म के महत्व को भी कम करना है। क्योंकि कैसाही कोई उत्तम धर्म हो, जो बलात् दूसरों के गले मढ़ा जाता है, उसकी श्रद्धा लोगों में फिर वैसी नहीं रहती, जैसी कि स्वेच्छापूर्वक पालन करने में। हां जो स्त्रियां अपने मन से इस धर्म का पालन करना चाहती हैं और संसार के बड़े से बड़े प्रलोभन और उत्तेजन भी जिनको इससे विमुख नहीं कर सकते, उनके लिए इससे बढ़कर और क्या धर्म हो सकता है ?

दूसरा प्रमाण वे यह उपस्थित करते हैं :—

> सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
> सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥ (१)
>
> (मनु० ९-६७)

समीक्षा—इस पद्य में कन्यादान का एक बार होना कहा गया है। इसका विशेष विवरण तो पाठक दूसरे अध्याय में देखेंगे। यहां हम केवल इतना ही कहते हैं कि शास्त्र में यदि मातापिता को कन्यादान देने का अधिकार दिया गया है तो प्रतिग्रहीता के अपात्र होने पर या न रहने पर उसके लौटाने का भी अधिकार दिया गया है। देखो, याज्ञवल्क्य क्या कहता है :—

(१) दायभाग, कन्यादान और प्रतिज्ञा ये तीन बातें एक ही बार होती हैं ६७

सकृत्प्रदीयते कन्या हरंस्तांश्चौरदण्डभाक् ।
दत्तामपि हरेत्पूर्वात् श्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत् ॥ (१)

(याज्ञवल्क्य अध्याय १)

इस पद्य में याज्ञवल्क्य ने कन्यादान का एक बार होना मान कर भी यदि पुनः श्रेष्ठ वर मिले तो दी हुई कन्या को लौटा लेने की आज्ञा दी है। ऐसी कन्या का पुनः दान करना वास्तव में सकृद्दान ही है, क्योंकि ऐसी दशा में यह समझा जायगा कि पहला दान, दान ही न था। देखो, नारद १६ प्रकार के दानों को अदान मानता है :—

अदत्तं तु भयक्रोधशोकवेगरुजान्वितैः ।
तथोत्कोचपरीहास व्यत्यासच्छलयोगतः ॥
बालमूढ़ास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तापवर्जितम् ।
कर्त्ता ममेदं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत् ॥
अपात्रे पात्रमित्युक्ते कार्ये वाधर्म संहिते ।
यद्दत्तं स्यादविज्ञानाददत्तमिति तत्स्मृतम् ॥ (२)

(नारदस्मृति ४। ९-१०-११)

---

(१) यद्यपि कन्या एक ही बार दी जाती है, उसको हरने वाला चोरी का दण्डभागी होता है, तथापि यदि श्रेष्ठवर आ जावे तो दी हुई कन्या को भी पहले वर से छीन लेवे।

(२) भय, क्रोध, शोक, वेग, रोग में किया हुआ, तथा उत्कोच (घूंस) परीहास और कपट से किया हुवा, तथा बालक, मूर्ख, परतन्त्र, दुःखी, मत्त और उन्मत्त का किया हुवा, तथा बदले की इच्छा से और अपात्र को पात्र समझ कर किया हुवा दान अदान है।

इन १६ प्रकार के दानों को नारद अदान मानता है, अर्थात् उक्त १६ दशाओं में जो दान किया जाता है, वह वास्तव में दान ही नहीं है। कैसे आश्चर्य की बात है कि अन्य भौतिक दानों में यदि हम से थोड़ी सी भी भूल हो जाती है, तो हम शास्त्र की भी कुछ परवा न करके उसका प्रतिशोध करने के लिए तय्यार हो जाते हैं। पर इन अबाध कन्याओं के दान को शास्त्र में उसके प्रतिशोध की आज्ञा होते हुये भी अमिट मान बैठते हैं।

तीसरा प्रमाण यह प्रस्तुत किया जाता है :—

मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥
अपत्यलोभाद्यातु स्त्री भर्त्तारमतिवर्तते ।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥
नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह नचाप्यन्यपरिग्रहे ।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्त्तोपदिश्यते ॥ (१)

(मनु० ५ । १६०-१६१-१६२)

समीक्षा—इन पद्यों में ब्रह्मचर्य का महत्त्व वर्णन किया गया है और उसकी आवश्यकता इसलिए हुई कि हिन्दू शास्त्रों में पुत्र के विना पितरों की गति नहीं मानी गई है, जैसा कि वसिष्ठ अपनी संहिता में लिखता है :—

---

(१) साध्वी स्त्री पति के मरने पर ब्रह्मचर्य में रह कर विना पुत्र के भी स्वर्ग को जाती है ॥१६०॥ सन्तान के लोभ से जो स्त्री पति का उल्लंघन करती है, वह इस लोक में निन्दित और पतिलोक से वञ्चित होती है ॥१६१॥ अन्य के ग्रहण करने पर भी अन्य की सन्तान अपनी नहीं कहलाती, साध्वी स्त्रियों का दूसरा पति कहीं नहीं कहा गया ॥१६२॥

"अनन्ताः पुत्रिणां लोका नापुत्रस्य गतिः श्रूयते ।" (१७-२)

भावार्थ "पुत्रवालों के अनन्त लोक हैं, अपुत्र की गति वेदों में नहीं सुनी जाती ।"

यदि इस श्रुति पर जिसका वसिष्ठ ने संकेत किया है, विश्वास करके स्त्री परपुरुषसे और पुरुष परस्त्री से सन्तान उत्पन्न करने लगे तो समाज में बड़ी गड़बड़ मच जाय और अपने पराये का कोई नियम न रहे। इस साङ्कर्य दोष का मिटाने के लिए ही उनको ऐसा करने से रोका गया है। तभी तो अन्तिम पद्य में कहा गया है कि "अन्य से उत्पन्न सन्तान अपनी नहीं होती।" क्या पुरुष केलिए अपनी स्त्री और स्त्री के लिए अपना पति भी 'अन्य' कहला सकते हैं? यदि नहीं कहला सकते तो जिन स्त्री पुरुषों ने धर्म और क़ानून के मुताबिक़ अपना विवाह कर लिया है, वे कदापि 'अन्य' शब्द के वाच्य नहीं हो सकते। जब विवाहिता युवती (चाहे पहले वह कुमारी रही हो या विधवा) अब अपने पति की स्त्री है, तो उसके लिए उसका पति न तो 'अन्य' हो सकता है और न दूसरा। पहले की अपेक्षा से दूसरा होता है, जब पहला ही नहीं तो दूसरा कहां?

यहां अन्य वह है, जिसके साथ धर्मानुसार विवाह नहीं हुवा। ऐसा पुरुष यदि किसी स्त्री में सन्तान उत्पन्न करता है तो वह सन्तान उसकी अपनी नहीं होती। बस इस अन्य भाव को दूर करने के लिए स्त्री-पुरुष दोनों के लिए यह आवश्यक है कि वे धर्मानुसार विवाह करके सन्तान उत्पन्न करें, तभी वे उसके फलभागी हो सकते हैं। अब रहा अन्तिम पद्य का उत्तरार्ध, जिसमें कहा गया है कि "साध्वी स्त्रियों का

दूसरा पति नहीं हो सकता, ।" यह कौन कहता है कि पति-वाली स्त्रियां दूसरा पति करें ? रही विधवायें, यदि उनका पति होता तो वे विधवा ही क्यों कहलातीं ? यदि पति के अभाव में भी वे पतिवाली समझी जायेंगी तो उनको विधवा क्यों कहते हो ? एक की विद्यमानता में ही तो दूसरा होगा, जब एक ही नहीं है तो दूसरा कहां ? हां पति की विद्यमानता में साध्वी स्त्रियों का दूसरा पति नहीं हो सकता, यह किसको सम्मत न होगा ? हम तो इतना और विशेष कहते हैं कि साधु पुरुष की भी स्त्री की विद्यमानता में दूसरी स्त्री नहीं हो सकती ।

चौथा प्रमाण यह रक्खा जाता है :—

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ (१)

(मनु० अ० ९)

समीक्षा—यह पद्य नियोग प्रकरण का है, इसको विवाह से सम्बद्ध करना भूल ही नहीं, किन्तु छल है । नियोग और पुनर्विवाह में बड़ा अन्तर है, जिसको हम दिखला चुके हैं । अतएव नियोग के खण्डन को पुनर्विवाह से लागू करना सरासर अनुचित है । जब पूर्व से नियोग का प्रकरण चला आ रहा है और इस पद्य के पूर्वार्द्ध में भी स्पष्ट नियोग का शब्द विद्यमान है, तब उत्तरार्ध में "विधवावेदन" शब्द से विधवाविवाह का ग्रहण करना सर्वथा अयुक्त है । मेधातिथि 'वेदनम्' का अर्थ 'गमनम्' करना है । जिससे सिद्ध है कि यहां विना

(१) विवाह के मन्त्रों में नियोग कहीं नहीं कहा जाता और न विवाहविधि में विधवावेदन कहा गया है ।

विवाह के विधवा से सम्बन्ध पैदा करने का नाम 'वेदन' है और यही नियोग का भी तात्पर्य है। इससे पूर्वार्द्ध को उत्तरार्द्ध के साथ सङ्गति भी मिल जाती है। क्योंकि जिस नियोग का विवाह के मन्त्रों में वर्णन नहीं हैं, वही विवाहविधि में भी अविहित हो सकता है। यह नहीं हो सकता कि मन्त्रों में तो नियोग वर्जित हो और विवाह की विधि में विधवाविवाह निषिद्ध हो। यदि उसको निषिद्ध माना जाय तो इस पद्य में वदतोव्याघात दोष आता है। विवाहविधि में विवाह का ही निषेध, यह कभी हो सकता है? अतएव विवाह के अतिरिक्त स्त्री पुरुष समागम के और जितने प्रसङ्ग हैं, उन्हीं का विवाह विधि में वर्जन हो सकता है, न कि स्वयं विवाह का चाहे वह विधवा का हो या विपत्नीक का। अतः विधवाविवाह से इस पद्य का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

यदि थोड़ी देर के लिए हम विधवाविवाह से भी इसका सम्बन्ध मान लें, तब भी इससे विधवाविवाह का निषेध कहां होता है? किन्तु समयान्तर में विधान सिद्ध होता है। विवाह के समय कौन यह चाहता है कि स्त्री पुरुषों का परस्पर वियोग हो और पुनर्विवाह की आवश्यकता पड़े? सब यही चाहते हैं कि यह जोड़ी दीर्घायु हो और फले फूले। पर जब दैवात् एक को दूसरे का वियोग हो जाता है, तभी पुनर्विवाह की आवश्यकता होती है। अतएव यह कहना कि विवाहविधि में अर्थात् विवाह के समय विधवा का पुनर्विवाह अनुक्त अर्थात् अनीप्सित है, युक्त ही है। जब विधवा होना ही कोई नहीं चाहता, तब उसके विवाह की तो कथा ही क्या है?

पाठक! उदाहृत मनुवचनों से कहां तक विधवाविवाह का खण्डन होता है, इसका न्याय हम आपके ऊपर ही छोड़ते

हैं। यदि विपक्षियों की प्रसन्नता के लिए इनको निषेध परक भी मान लिया जाय, तब भी 'स्मृतेर्वेदविरोधेतु परित्यागो यथा भवेत्';* इस आर्पव्यवस्था के अनुसार श्रुति के विरुद्ध स्मृतिवचन आदरणीय नहीं हो सकते। विधवाविवाह का श्रुतिसम्मत होना वैदिक प्रकरण में हम प्रमाणित कर चुके हैं।

अन्य स्मृतियां और विधवाविवाह।

अब हम विधवाविवाह की पुष्टि में कुछ अन्य स्मृतियों के प्रमाण भी उद्धृत करते हैं, जिनसे पाठकों को इसकी शास्त्रीयता और अपने पूर्वजों की देशकालज्ञता का परिचय मिलेगा। हम नारदस्मृति से आरम्भ करते हैं। पूर्व इसके कि हम नारद के वचनों को उद्धृत करें, नारदस्मृति का कुछ परिचय पाठकों को दे देना चाहते हैं। नारदस्मृति के आरम्भ में ही लिखा है कि "स्वायंभव मनु ने एक लाख पद्यों में मानवधर्मशास्त्र को बनाया। सबसे पहले नारद ने उसको बारह हजार पद्यों में, फिर मार्कण्डेय ने आठ हज़ार पद्यों में, पुनः भृगु ने चार हज़ार पद्यों में उसे संक्षिप्त किया।" इस से सिद्ध है कि नारद भी भृगु के समान मनुस्मृति के संग्रहकारों में है।

एशियाटिक सोसायटी बंगाल की ओर से जो नारदस्मृति की पुस्तक छपी है, उसकी भूमिका में, जो अंगरेज़ी में है, डाक्टर जूलियस जूली लिखते हैं :

"ब्रिटिश म्यूज़ियम के मनेजर मिस्टर बन्डल ने मुझे एक प्राचीन नारदस्मृति की पुस्तक दी थी, जो नैपाली अक्षरों में ताड़के पत्तों पर लिखी हुई थी। उसके प्रत्येक पद की समाप्ति

* वेद के विरोध में स्मृति का परित्याग होता है।

में यह लिखा हुवा था। "इति मानवे धर्मशास्त्रे नारदप्रोक्तायां संहितायां अमुकप्रकरणं समाप्तम्" इससे भी नारद संहिता का मानवधर्मशास्त्र के अन्तर्गत होना सिद्ध होता है। यदि उसको स्वतन्त्र स्मृति भी माना जाय, तब भी उसका महत्व मनुस्मृति से कम नहीं हो सकता और यह बात उसके महत्व को और भी बढ़ा देती है कि उसके प्रतिपादित धर्म मनु के समान कलिवर्ज्य नहीं है। अतएव नारद के वचन हमारे लिए विशेष आदरणीय हैं। नारद ने तीन प्रकार की पुनर्भू कन्याओं के विवाह का जो विधान किया है, उसको मनु के प्रकरण में हम दिखला चुके हैं। पराशर ने जिन पांच अवस्थाओं में पत्यन्तर का विधान किया है, वह नारद को भी सम्मत है :—

> नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
> पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्योविधीयते ॥
>
> (नारदस्मृति १२-९७)

पुनः अक्षता विधवा के लिए नारद ने निम्नलिखित आज्ञा दी है :—

> उद्वाहितापि या कन्या न चेत्संप्राप्तमैथुना।
> पुनःसंस्कार मर्हति यथा कन्या तथैव सा ॥ (१)
>
> (नारदस्मृति १२-२२)

यहां तक कि नारद पति के प्रवास में प्रवास की अवधि नियत करता हुवा पत्यन्तर का विधान करता है :—

---

(१) विवाही हुई भी जो कन्या पति के साथ समागम को प्राप्त नहीं हुई, वह फिर से संस्कार के योग्य है, क्योंकि जैसी कन्या वैसी वह ॥२२॥

अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम् ।
अप्रसूता तु चत्वारि परतोऽन्यं समाश्रयेत् ॥
क्षत्रिया षट्समास्तिष्ठेदप्रसूतासमात्रयम् ।
वैश्या प्रसूता चत्वारि द्वेवर्षेत्वितरा वसेत् ॥
न शूद्रायाः स्मृतः काल एष प्रोषितयोषिताम् ।
जीवति श्रूयमाणेतु स्यादेष द्विगुणोऽवधिः ॥ (१)

(नारदस्मृति १२ । ९८-९९-१००)

इसी आशय का एक पद्य मनुस्मृति में भी है :—

प्रोषितो धर्मकामार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तुवत्सरान् ॥ (२)

(मनु० ९-७६)

इस पर विपक्षी यह कहते हैं कि मनु ने इसमें पत्यन्तर का विधान कहां किया है केवल यह कहा है कि इतने काल तक

---

(१) ब्राह्मणी विदेश में गये पति की ८ वर्ष तक प्रतीक्षा करे, यदि वह निःसन्तान हो तो ४ वर्ष तक, इसके बाद अन्य का आश्रय ले ॥९८॥ संतान वाली क्षत्रिया ६ वर्ष, निःसन्तान ३ वर्ष, सन्तानवाली वैश्या ४ वर्ष, निःसन्तान २ वर्ष तक प्रतीक्षा करे ॥९९॥ शूद्रा के लिए कोई समय नियत नहीं है। यदि पति का जीवित होना सुना जाय तो यह समय दूना हो सकता है ॥१००॥

(२) धर्म के लिए गया हुवा पति ८ वर्ष, विद्या और यश के लिए गया हुवा ६ वर्ष, तथा कामवासना के लिए गया हुवा ३ वर्ष तक प्रतीक्षा करने के योग्य है ॥ ७६ ॥

प्रतीक्षा करे, इसके बाद क्या करे? यह कुछ नहीं कहा। मनु के भाष्यकारों में कुल्लूक और सर्वज्ञनारायण तो इसका यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "इसके बाद वह पति के पास चली जावे। पर नन्दन इसके भाष्य में स्पष्ट लिखता है- "ऊर्ध्वं भर्त्रन्तरपरिग्रहे न दोषः।" अर्थ—इसके पश्चात् अन्य पति के ग्रहण में दोष नहीं है। इनमें से प्रथम दोनों टीकाकारों का मत युक्ति और प्रमाण से शून्य है। क्योंकि जब स्त्री को कुछ मालूम ही नहीं कि पति जीवित है या नहीं, यदि जीवित है तो कहां है, क्या करता है? इस दशा में उसका पति के समीप जाना कैसा? पर नन्दन का अभिप्राय जहां युक्तियुक्त है, वहां उसकी पुष्टि में नारद का उक्त प्रमाण भी मौजूद है, जो स्पष्ट ही कहता है कि "परतोऽन्यं समाश्रयेत्" इसके पश्चात् अन्य का आश्रय लेवे। कितना स्पष्ट विधान है क्या इसका भी कुछ अन्य अर्थ कर सकते हैं?

यह तो हुई प्रवास की बात, अब पति के नपुंसक अथवा अयोग्य होने पर नारद ने स्त्री के लिए जो आज्ञा दी है, उसको भी सुन लीजिए :—

ईर्ष्याषण्ढादयो ये च चत्वारः समुदाहृताः ।
त्यक्तव्यास्ते पतितवत्क्षतयोन्या अपि स्त्रियाः ॥
आक्षिप्तमोघवीजाभ्यां कृतेऽपि पतिकर्मणि ।
पतिरन्यः स्मृतो नार्या वत्सरार्धं प्रतीक्ष्य तु ॥
अन्यस्यां यो मनुष्यः स्यादमनुष्यः स्वयोषिति ।
लभते सान्यभर्त्तारमेतत्कार्यं प्रजापतेः ॥

अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टा स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः ।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति ॥ (१)
(नारदस्मृति १२ । १६–१७–१८–१९)

इन पद्यों में नारद केवल नपुंसक पति को ही त्याग कर स्त्री को पत्यन्तर करने की आज्ञा नहीं देता, किन्तु व्यभिचारी और उद्दण्ड पति को भी त्यागकर अन्य पति करने का परामर्श देता है। भला जो उदारचेता हमारे पूर्वज पति की जीवितावस्था में भी कई दशाओं में स्त्रियों को पुनर्विवाह की आज्ञा दे गये हैं उनसे यह कब हो सकता था कि वे पति के मरने पर आजीवन इनको वैधव्य की भट्टी में जलता हुआ देखें और चुप बैठे रहें? हम यहां पर अन्य स्मृति वचनों को भी उद्धृत करते हैं, जिन से पाठकों को विदित होगा कि स्मृतिकारों ने किस उदारता से विधवाविवाह का प्रतिपादन किया है।

शातातप ।

अब ज़रा शातातप की भी सम्मति सुन लीजिए:—

वरश्चेत्कुलशीलाभ्यां न युज्येत कदाचन ।
न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यानृतं भवेत् ॥

---

(१) ईर्ष्याषण्ढ आदि जो ४ प्रकार के नपुंसक हैं, वे क्षतयोनि स्त्री से भी पतित के समान त्याज्य हैं ॥ १६ ॥ आक्षिप्त और मोघबीज नपुंसकों से पतिकर्म के हो जाने पर भी ६ मास तक प्रतीक्षा करने के बाद स्त्री को अन्य पति कर लेना चाहिए ॥ १७ ॥ अन्य स्त्री के प्रति जो मनुष्य हो और अपनी स्त्री में अमनुष्य, उसकी स्त्री अन्य पति को प्राप्त करे क्योंकि यह काम प्रजापति का है ॥ १८ ॥ सन्तान के लिए स्त्रियों की सृष्टि हुई है, स्त्री क्षेत्र है, और पुरुष बीजी, बीज वाले को क्षेत्र देना चाहिए, अबीजी उसका पात्र नहीं ॥ १९ ॥

समाच्छिद्य तु तां कन्यां बलादक्षतयोनिकाम् ।
पुनर्गुणवते दद्यादिति शातातपोऽब्रवीत् ॥ (१)

(पराशरभाष्योद्धृत शातातपवचन)

शातातप के उक्त पद्यों का अभिप्राय यह है कि यदि अयोग्य वर को कन्या दान कर दी गई हो तो न मन्त्र कारण हो सकते हैं और न कन्यात्व ही निवृत्त हो सकता है। ऐसी कन्या को बलपूर्वक अयोग्य वर से छीनकर योग्य पुरुष को दे देना चाहिए। पाठक इससे अधिक और स्पष्ट आज्ञा क्या हो सकती है? शोक कि शास्त्रों में इतना स्पष्ट विधान होने पर भी विपक्षी इसको शास्त्रविरुद्ध कहने का साहस करते हैं और भोली भाली जनता को जो संस्कृत से बिलकुल अनभिज्ञ है, बहका कर और उलटे सीधे इनके अर्थ करके अपना उल्लू सीधा करते हैं।

कात्यायन ।

अब ज़रा कात्यायन की भी सम्मति सुन लीजिए :—

वरयित्वा तु यः कश्चित्प्रणश्येत्पुरुषो यदा ।
ऋत्वागमांस्त्रीनतीत्य कन्यान्यं वरयेत् वरम् ॥
सतु यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीब एववा ।

(१) यदि वर कुलशील से युक्त न हो तो न मन्त्र कारण हैं और न कन्यात्व नष्ट होता है। उस अक्षत योनि कन्या को बलपूर्वक उस अयोग्य वर से छीन कर गुणवान् को दे देना चाहिए, यह शातातप का मत है।

विकर्मस्थः सगोत्रोवा दासो दीर्घामयोपिवा ॥
ऊढापि देया सान्यस्मै सहावरणभूषणा ॥ (२)

(पराशरभाष्योद्धृत कात्यायनवचन)

पराशर और नारद ने तो पांच ही अवस्थाओं में पत्यन्तर की आज्ञा दी है, परन्तु कात्यायन सात दशाओं में पुनर्विवाह की आज्ञा देता है (१) यदि पति विजातीय हो (२) पतित हो (३) नपुंसक हो (४) दुराचारी हो (५) सगोत्र हो (६) दास हो और (७) चिररोगी हो, तो व्याही हुई भी कन्या वस्त्राभूषण सहित दूसरे को दे देनी चाहिए । पाठक ! अब आप न्याय कीजिए कि इससे अधिक विधवाविवाह की पुष्टि और क्या हो सकती है ? माधव भी पराशर भाष्य में शातातप और कात्यायन के उक्तवचनों को उद्धृत करता हुवा लिखता है:—

"यद्यपि शातातप और कात्यायन आदि ऋषियों ने पत्यन्तर का विधान किया है तथापि युगान्तरीय होने से वह उपेक्षणीय है ।"

माधव के इस प्रलाप की पड़ताल हम पराशर स्मृति के प्रकरण में कर चुके हैं ।

वसिष्ठ ।

अब हम वसिष्ठस्मृति के कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं । वाग्दान और जलदान के अनन्तर जो वसिष्ठ ने पुनर्विवाह की

---

(२) यदि कोई पुरुष कन्या को वरकर नष्ट हो जावे तो वह कन्या तीन ऋतुकालों के उपरान्त अन्य वर को वरण करे । यदि वर विजातीय हो, पतित वा नपुंसक हो, चरित्रभ्रष्ट हो, सगोत्र हो, दास हो, अथवा दीर्घरोगी हो, तो इन सात अवस्थाओं में व्याही हुई भी वह वस्त्राभरणसहित अन्य को दे देनी चाहिए ।

आज्ञा दी है, उसका उल्लेख तो मनु के प्रकरण में हम कर चुके हैं। अब पति के मरने पर अक्षता कन्या के लिए वसिष्ठ ने जो आज्ञा दी है, उसको लिखते हैं:—

पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता।
साचेदक्षतयोनिः स्यात् पुनः संस्कारमर्हति ॥ (१)

(वसिष्ठस्मृति १७। ७४)

इस पद्य में वसिष्ठ ने पति के मर जाने पर बालविधवा के पुनः संस्कार की आज्ञा दी है। अब जीवितावस्था में भी वसिष्ठ की सम्मति सुन लीजिये:—

कुलशीलविहीनस्य षण्ढस्य पतितस्य च।
अपस्मारि विधर्मस्य रोगिणो वेशधारिणः।
दत्तामपि हरेत्कन्यां सगोत्रोढां तथैव च ॥

(स्मृतितत्त्वधृतवसिष्ठवचन)

वसिष्ठ भी कात्यायन के समान उक्त दशाओं में दी हुई कन्या को छीन लेने की अनुमति देता है। जब अनेक स्मृतिकार दान की हुई कन्या को भी उक्त दशाओं में लौटाने की आज्ञा देते हैं, तब उसका पुनर्दान करने में माता, पिता और सम्बन्धियों को कुछ आपत्ति न होनी चाहिये।

---

(१) पाणिग्रहण करनेवाले पति के मरने पर केवल मन्त्रों से संस्कार की हुई कन्या यदि अक्षतयोनि हो तो पुनःसंस्कार के योग्य है ॥७४॥

(२) कुल और शील से हीन, नपुंसक, पतित, अपस्मारी, विधर्मी, रोगी, वेशधारी और सगोत्र को दी हुई कन्या भी फेर ले।

याज्ञवल्क्य।

याज्ञवल्क्य ने श्रेष्ठ वर की उपलब्धि में दी हुई कन्या को पूर्व वर से छीन लेने की जो अनुमति दी है, उसको हम मनु के प्रकरण में उद्धृत कर चुके हैं। अब जिस वाक्य के द्वारा याज्ञवल्क्य ने क्षता और अक्षता दोनों प्रकार की कन्याओं के पुनर्विवाह की आज्ञा दी है, जिसको मनुके भाष्यकार राघवानंद ने "साचेदक्षतयोनिःस्यात्" मनु के इस पद्य की टीका में उद्धृत किया है, उसको हम लिखते हैं:—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः।
स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत् ॥ (१)
(याज्ञवल्क्य० ३-६७)

इस पद्य में याज्ञवल्क्य ने पुनर्भू को (चाहे वह क्षता हो वा अक्षता) पुनःसंस्कार के योग्य माना है और जो बिना संस्कार के दूसरे का आश्रय लेती है, उसको स्वैरिणी माना है। इससे सिद्ध है कि याज्ञवल्क्य की दृष्टि में पुनर्भू से स्वैरिणी भिन्न है। अन्यथा वह स्वैरिणी से उसको पृथक् न करता। आगे चलकर याज्ञवल्क्य व्यवहाराध्याय के ऋणदान प्रकरण में उत्तरपति को पूर्वपति के ऋण का दायी ठहराता है :—

रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैव च।
पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः पुत्रहीनस्य रिक्थिनः ॥ (२)
(याज्ञवल्क्य० ३-५१)

---

(१) अक्षता हो वा क्षता जिसका पुनःसंकार हुवा है पुनर्भू है, जो पति को छोड़कर काम से किसी सवर्ग का आश्रय ले, वह स्वैरिणी है ॥ ६७ ॥

(२) अंशग्राही, स्त्रीग्राही और पुत्र ये तीन मृत पुरुष का ऋण चुकाने वाले हैं, यदि कोई पुत्रहीन हो तो उसका ऋण अंशग्राही या स्त्रीग्राही चुकावें ॥ ५१ ॥

अंशग्राही स्त्रीग्राही और पुत्र, इन तीन पर मृत पुरुष के ऋण का दायित्व है, यदि पुत्र न हो तो अंशग्राही और स्त्रीग्राही उस का ऋण चुकावें। यदि याज्ञवल्क्य की दृष्टि में विधवा-विवाह अवैध होता तो वह पूर्वपति के ऋण का भार उत्तर-पति पर क्यों रखता? क्या अवैध सन्तान पर भी पिता के ऋण का भार होता है? यदि नहीं होता तो फिर अवैध उत्तर पति को याज्ञवल्क्य ने क्यों पूर्वपति का ऋणदायी ठहराया?

विष्णु

अक्षता के पुनःसंस्कार की विष्णु भी आज्ञा देता हैः—

अक्षता भूयःसंस्कृता पुनर्भूः (१)

(विष्णुस्मृति अ० १५)

विष्णुस्मृति की केशववैजयन्ती नाम्नी टीका में इसकी व्याख्या करता हुआ नंदपण्डित लिखता है—"अक्षता संस्कार मात्रदूषिता पुनःसंस्कृता चेत्पुनर्भूः"। केवल संस्कार से दूषित अक्षता पुनः संस्कार की हुई पुनर्भू है।

बोधायन।

अब हम बोधायन की सम्मति और लिखकर इस प्रकरण को समाप्त करते हैंः—

निसृष्टो वा हतो वापि यस्या भर्त्ता म्रियेत वा।

---

(१) अक्षता पुनःसंस्कार की हुई पुनर्भू है।

साचेदक्षत योनिः स्याद् गतप्रत्यागतापिवा ॥
पौनर्भवेन विधिना पुनःसंस्कारमर्हति ॥ (२)

(बोधायनस्मृति ४-१-१७)

बोधायन भी न केवल पति के मरने पर किन्तु निर्वासित होने पर भी अक्षताकन्या के पुनःसंस्कार की आज्ञा देता है।

पाठक ! आपने देख लिया कि उक्त स्मृतिकारों ने किस उदारता और पितृवत्सलता से बालविधवाओं के पुनःसंस्कार की आज्ञा दी है। यदि यह आज्ञा किसी अंश में सन्दिग्ध भी होती तो भी न्याय यह कहता है कि उस सन्देह का लाभ इन अवाक् और निरपराध बालविधवाओं को मिलना चाहिए था। पर शास्त्रप्रवर्तक ऋषि महर्षियों की ऐसी असन्दिग्ध और स्पष्ट आज्ञा के होते हुवे भी उन्हीं ऋषियों की सन्तान आज अपनी बहनों और पुत्रियों के मानुषिक और स्वाभाविक स्वत्वों को कैसी अमनुष्योचित निर्दयता के साथ पैरों के नीचे कुचल रही है ! हमारी समझ में नहीं आता कि जो लोग अपने आत्मीयों के साथ धर्म के नाम पर ऐसा निष्ठुर आचार जारी रख सकते हैं, वे आकाश पाताल एक करने पर भी कभी अपने को स्वायत्त शासन का अधिकारी सिद्ध कर सकेंगे ?

अब हम कुछ ऋषियों के प्रमाण "सनातन धर्म" नामक पुस्तक में से जो स्वर्गीय डाक्टर मुकुन्दलाल आगरा निवासी ने अपनी विधवा पुत्री का विवाह करने के निमित्त संग्रह की

---

(२) जिसका पति घर से निकल गया हो या मारा गया हो या मर गया हो, वह यदि अक्षतयोनि हो और पति के घर जाकर लौट आई हो, वह पौनर्भव विधि से पुनःसंस्कार के योग्य है ॥ १७ ॥

थो, उद्धृत करते हैं। उक्त डाक्टर महोदय ने ये प्रमाण दीवान बहादुर पं० रघुनाथ राव की पुस्तक से संग्रहीत किये हैं।*

पराशर ।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

अत्रि ।

नष्टे संन्याससमापन्ने व्याधिग्रस्ते च भर्तरि ।
पुनः स्त्रीणां विवाहः स्यात्कलावपि न संशयः ॥

पति के मृत्यु, संन्यास और रोगग्रस्त होने पर कलियुग में भी पुनर्विवाह होना चाहिए,

गौतम ।

मरणानन्तरं भर्तुर्यद्यनाहत योनयः ।
स्त्रियो विवाहमर्हन्ति नात्र कार्या विचारणा ॥

पति के मरने के अनन्तर यदि स्त्री अक्षत योनि हो तो विना सोचे उसका विवाह कर देना चाहिए।

वैशंपायन ।

पुरुषाणामिव स्त्रीणां विवाहा बहवो मताः ।
भर्तृनाशे पुनः स्त्रीणां पुंसां पत्नीलये यथा ॥

पुरुषों के ही समान स्त्रियों के भी पति के न रहने पर अनेक विवाह हो सकते हैं, जैसे कि पत्नी के न रहने पर पुरुषों के।

कश्यप ।

आषोड़शवयो नार्यो यदिता मृतभर्तृकाः ।
पुनर्विवाहमर्हन्ति न तत्र विशयो भवेत् ॥

---

* खेद है कि मूल पुस्तक खोज करने पर भी हमको न मिली।

सोलह वर्ष तक यदि स्त्रियां पतिहीन होजावें तो इनका निस्सन्देह पुनर्विवाह कर देना चाहिये ।

जाबालि ।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राः स्वकुलयोषिताम् ।
पुनर्विवाहं कुर्वीरन्नन्यथा पापसम्भवः ॥

चारों वर्ण अपने २ वर्ण की स्त्रियों का पुनर्विवाह करें, ऐसा न करने से पाप की संभावना है ।

अगस्त्य ।

भर्त्रभावे वयः स्त्रीणां पुनः परिणयामतः ।
न तत्र पापं नारीणामन्यथा तद्गतिर्नहि ॥

पति के अभाव में विवाहयोग्य स्त्रियों का पुनर्विवाह युक्त है । इसमें कुछ पाप नहीं, न करने में पाप है !

व्याघ्रपात् ।

पत्निनाशे यथा पुंसो भर्त्तृनाशे तथा स्त्रियाः ।
पुनर्विवाहः कर्त्तव्यः कलावपि युगे तथा ॥

पत्नी के अभाव में जैसे पुरुष का पति के अभाव में वैसे ही स्त्री का कलियुग में भी पुनर्विवाह होना चाहिये ।

वसिष्ट ।

भर्तृसम्बन्धशून्यानां भर्तृनाशेतु योषिताम् ।
पुनर्विवाहं कुर्वीत पापं नैव मनागपि ॥

पति से जिनका सम्बन्ध नहीं हुवा है, पति के न रहने पर उन स्त्रियों का पुनर्विवाह करना चाहिये इसमें कुछ भी पाप नहीं ।

बृहस्पति ।

अज्ञातभर्त्तृसम्बन्धा भवन्ति यदि याषितः ।
गतप्रिया यदा तासां पुनः परिणयो भवेत् ॥

जो स्त्रियां पति के सम्बन्ध को न जानती हों उनके पति यदि न रहें तो पुनः उनका विवाह होना चाहिये ।

विश्वामित्र ।

अस्पृष्टलिङ्गयोनीनामाविंशति वयः स्त्रियाः ।
पुनर्विवाहः कर्त्तव्यश्चतुर्ष्वपि युगेष्वपि ॥

जिनका पति के साथ समागम नहीं हुवा है, ऐसी बीस वर्ष तक की स्त्रियों का चारों युगों में पुनर्विवाह होना चाहिये ।

नारद ।

उद्वाहितापि या कन्या नचेत्संप्राप्त मैथुना ।
पुनःसंस्कारमर्हेत यथा कन्या तथैव सा ॥

इसका अर्थ नारद स्मृति के प्रसङ्ग में लिख चुके हैं ।

च्यवन ।

पूर्वन्निषेकान्नारीणां मृते पत्यौ ततः परम् ।
दशाहाभ्यन्तरे कुर्याद्विवाहन्तु पुनः पिता ॥

गर्भाधान से पहले यदि स्त्री का पति मर जाय तो उसका पिता दस दिन के भीतर ही उसका पुनर्विवाह करदे ।

मार्कण्डेय ।

निषेकानन्तरं स्त्रीणां भर्त्तुर्भर्तृत्वमुच्यते ।
पाणिग्रहणमात्रेण न भर्त्ता सर्वयोषिताम् ॥

गर्भाधान के पश्चात स्त्री का पति कहलाता है, पाणिग्रहण मात्र से पतिसंज्ञा नहीं होती ।

याज्ञवल्क्य ।

आगर्भधारणात्स्त्रीणां पुनः परिणयः स्मृतः ।
भर्त्तृनाशेतु माङ्गल्यं प्राप्तुमर्हन्ति योषितः ॥

गर्भधारण तक स्त्रियों का पुनर्विवाह हो सकता है । पति के मरने पर स्त्रियां सौभाग्य को प्राप्त कर सकती हैं ।

शौनक ।

गर्भाधानविहीनानां स्त्रीणां कर्माधिकारिता ।
भर्तॄणां विपर्ययेणैव म्रियमाणेषु तेष्वपि ॥

जिन स्त्रियों का गर्भाधान नहीं हुवा है, पति के मरने पर उनको विवाह का वैसा ही अधिकार है, जैसा स्त्री के मरने पर पुरुष को ।

पुराण और विधवाविवाह ।

पुराणों का विस्तार बहुत बड़ा है । यह एक ऐसा सघन वन और अथाह समुद्र है कि इसमें ढूंढनेवाले को सभी प्रकार की सामग्री मिल सकती है । पर हमारे पाठक अब ऊब गये होंगे, इसलिए अब हम इस विषय को बढ़ाना नहीं चाहते और न इसकी आवश्यकता ही समझते हैं । कतिपय प्रसिद्ध प्रमाण और उदाहरण देकर ही इस अध्याय को समाप्त करते हैं ।

ब्रह्मपुराण ।

यदि सा बालविधवा बला त्यक्ताऽथवा क्वचित् ।
तदा भूयस्तु संस्कार्या गृहीत्वा येन केनचित् (१)

(वीरमित्रोदयधृत ब्रह्मपुराणवचन)

देखिए पाठक ! ब्रह्मपुराण के इस पद्य में बालविधवा ही नहीं, किन्तु बलपूर्वक पति से त्याग की हुई स्त्री के भी पुनः संस्कार की कितनी स्पष्ट आज्ञा दी गई है ।

---

(१) यदि वह बालविधवा हो अथवा बलात् पति से त्यागी गई हो, कोई भी सज्जन पुनःसंस्कार के द्वारा उसको ग्रहण कर सकता है ।

अग्निपुराण ।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवेच पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।
देवराय मृते देया तदभावे यथेच्छया ॥

(अग्निपुराण अध्याय १५४)

अग्निपुराण के उक्त वचन में भी पराशरोक्त पांच दशाओं में पुनर्विवाह की आज्ञा दी गई है और इतना विशेष है कि पति के मर जाने पर देवर को देनी चाहिये, उसके अभाव में यथेच्छ किसी अन्य को।

पद्मपुराण ।

विवाहो जायते राजन् कन्यायास्तु विधानतः ।
पतिर्मृत्युं प्रयात्यस्या नोचेत्सङ्गं करोतिच ॥
महाव्याध्यभिभूतश्च त्यागं कृत्वा प्रयाति वा ।
उद्वाहितायां कन्यायामुद्वाहः क्रियते बुधैः ॥ (१)

(पद्मपुराण भूमिखण्ड अ० ८५)

पद्मपुराण के इन पद्यों में कितनी स्पष्टता से विधवा विवाह का विधान किया गया है, न केवल पति के मरने पर किन्तु रोगग्रस्त और प्रवासित होने पर भी। इसी प्रकार स्मृतियों के अन्य वचन भी कहीं उसी रूप में कहीं कुछ पाठ-

---

(१) हे राजन्! विना समागम किये ही जिस कन्या का पति मर जाय उसका विवाह होता है। जिसका पति असाध्य रोग में ग्रस्त हो या जो अबला को निराश्रित छोड़ कर चला गया हो, उस विवाहिता का भी विवाह होना चाहिए।

भेद के साथ पुराणों में आते हैं। विस्तरभय से हम यहां उनका उल्लेख करने में असमर्थ हैं। अब हम एक प्रमाण तन्त्रशास्त्र का भी उद्धृत करके इस विषय को समाप्त करते हैं।

महानिर्वाणतन्त्र ।

षण्ढेनोद्वाहितां कन्यां कालातीतेऽपि पार्थिवः ।
जानन्नुद्वाहयेद्भूयो विधिरेषः शिवोदितः ॥
परिणीता न रमिता कन्यका विधवा भवेत् ।
साप्युद्वाह्या पुनः पित्रा शैवधर्मेष्वयं विधिः ॥ (१)

(महानिर्वाणतन्त्र उल्लास ११ पद्य ६६-६७)

पाठक ! तन्त्रशास्त्र में महानिर्वाणतन्त्र प्रधान माना जाता है। उसके उक्त वचनों में पति के नपुंसक होने अथवा मर जाने पर स्त्री के लिए पुनर्विवाह की आज्ञा दी गई है। नपुंसक होने की दशा में राजा को और पति के मर जाने पर पिता को जो विवाह कराने का अधिकार दिया गया है, उसका कारण यह है कि यदि पति के नपुंसक होने पर भी पिता को अधिकार दिया जाता तो पति आपत्ति कर सकता था। न्यायालय से परीक्षा होकर जब यह सिद्ध हो जायगा कि वह विवाह करने के अयोग्य है, तब उसका कोई दावा नहीं चल सकता।

ऐतिहासिक उदाहरण ।

अब हम कुछ ऐतिहासिक उदाहरण देकर पहले अध्याय

---

(१) जो कन्या नपुंसक से व्याही गई हो, समय बीत जाने पर भी राजा उसका पुनर्विवाह करा देवे, शिवोक्त यही विधि है ॥६६॥ विवाह की हुई कन्या यदि विना रमण किये विधवा हो जाय, उसका पिता पुनः विवाह करदे, शैव धर्म में यही विधि है ॥६७॥

को समाप्त करते हैं । पहला उदाहरण अर्जुन और उलोपी के पुनर्विवाह का है, जिसका वर्णन महाभारत के भीष्मपर्व में इस प्रकार किया गया है :—

अर्जुनस्यात्मजः श्रीमानिरावान्नाम वीर्यवान् ।

सुतायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता ॥

ऐरावतेन सा दत्ता ह्यनपत्या महात्मना ।

पत्यौ हते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना ॥ (१)

(महाभारत भीष्मपर्व अ० ९१)

इससे सिद्ध है कि नागराज ऐरावत ने अपनी विधवापुत्री का जिसके पति को सुपर्ण ने युद्ध में मार डाला था, अर्जुन के साथ विवाह किया था और उससे अर्जुन का इरावान् नाम पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसको इसी अध्याय के ८२ पद्य में औरस पुत्र लिखा है । यदि विधवाविवाह अधर्म और अशास्त्रीय होता तो अर्जुन जो देवव्रत भीष्म का पौत्र, धर्म-रक्षक भगवान् कृष्ण का सखा और धर्मावतार युधिष्ठिर का भ्राता था, कदापि उसके करने का साहस न करता और न भगवान् व्यास इरावान् को अर्जुन का औरस पुत्र लिखते ।

दूसरा उदाहरण राजा नल की पत्नी दमयन्ती के स्वयंवर का है, जिसका वर्णन महाभारत के वनपर्व में इस प्रकार किया गया है :—

---

(१) नागराज ऐरावत की पुत्री में अर्जुन से उत्पन्न हुआ इरावान् नाम का बलवान् पुत्र था, ऐरावत ने वह अपनी पुत्री जो निःसन्तान थी सुपर्ण के हाथ से उसके पति के मारे जाने पर अर्जुन को दी थी ।

गत्वा सुदेव नगरीमयोध्यावासिनं नृपम् ।
ऋतुपर्णं वचो ब्रूहि सम्पतन्निव कामगः ॥
आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयंवरम् ।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ॥
तथा च गणितः कालः श्वोभूते सभविष्यति ।
यदि सम्भावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिन्दम ॥ (१)

(महाभारत वनपर्व १७ । २३-२४-२५)

इसपर विधवाविवाह के विपक्षी शायद यह कहें कि दमयन्ती के पुनः स्वयंवर की घोषणा पुनर्विवाह के लिए न थी, किन्तु नल को प्राप्त करने की एक चाल थी। फिर इस उदाहरण को पुनर्विवाह की पुष्टि में क्यों प्रस्तुत किया जाता है? यह ठीक है कि राजा भीम ने दमयन्ती का स्वयंवर इसी उद्देश्य से रचा था। पर स्वयंवर का रचा जाना और उसमें देश के अनेक राजाओं का यह जानते हुवे कि दमयन्ती का यह दूसरा स्वयंवर है, सम्मिलित होना, इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उस समय विवाहिता स्त्रियों के पुनर्विवाह की रीति समाज में प्रचलित थी। यदि यह रीति द्विजों में प्रचलित न होती तो राजा भीम जैसे क्षत्रियवर्य अपनी संतान वाली पुत्री के लिए ऐसे गर्हित और शास्त्रविरुद्ध उपाय को कभी काम में न लाते और न राजा ऋतुपर्ण जैसे धर्मात्मा जो मर्या-

---

(१) दमयन्ती सुदेव से कहती है, हे सुदेव! तुम अयोध्या में शीघ्र जाकर वहां के राजा ऋतुपर्ण से कहना कि भीमपुत्री दमयन्ती फिर स्वयंवर रचना चाहती है, वहां अनेक राजा और राजपुत्र जा रहे हैं, कल ही उसके होने की सम्भावना है, यदि सम्भव हो तो तुम शीघ्र ही वहां पहुंचो।

दापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के वंशज थे, इस धर्मविरुद्ध समारम्भ में न केवल दर्शक होकर किन्तु वर बनने की आशा से सम्मिलित होते क्योंकि जितने भी राजपुत्र इस स्वयंवर में निमन्त्रित होकर आये थे, वे सब इसको सच्चा स्वयंवर ही समझकर आये थे और यह बात भी किसी से छिपी हुई न थी कि दमयन्ती का यह दूसरा स्वयंवर है और वह सन्तानवाली है। इससे सिद्ध है कि उस समय केवल पति के मरने पर ही नहीं किन्तु प्रवासित होने पर भी द्विजों में पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित थी।

तीसरा उदाहरण प्लक्षद्वीप के राजा दिवोदास की पुत्री दिव्यादेवी का है, जिसका विवाह उसके पिता ने ब्राह्मणों की अनुमति से २१ बार किया। दैवदुर्विपाक से लगातार उसके पति मरते गये। २१ वें पति के मरजाने पर भी उसने साहस नहीं छोड़ा और उसका स्वयंवर रच डाला। आखिर उसके पौरुष के सामने दैव को ही हार माननी पड़ी।

(देखो पद्मपुराण भूमिखण्ड अध्याय ८५)

चौथा उदाहरण पतिव्रताओं में शिरोमणि तारा का है, जिसने अङ्गद पुत्र के होते हुवे सुग्रीव के साथ जो श्रीरामचन्द्र महाराज का अनन्यभक्त और सखा था, पुनर्विवाह किया। यदि पुनर्विवाह अवैध होता तो क्या सुग्रीव आज हिन्दूसमाज में भक्तशिरोमणि और तारा पतिव्रताओं में मुख्य पंच कन्याओं में मानी जाती? (देखो वाल्मीकि रामायण किष्किन्धा काण्ड सर्ग ३३)

पांचवां उदाहरण मालवे के एक गृहस्थ ब्राह्मण का है, जिसने अपनी पुत्री का विवाह उत्तरोत्तर दस पतियों के साथ

किया, पुत्री के दौर्भाग्य से वे सब मरते गये, तब वह निराश होगया। एक दिन एक रूपवान् युवा पुरुष उसका अतिथि हुवा, इस युवा अतिथि को देखकर उसकी पुत्री इसपर आसक्त हो गई। तब उसने पिता से इस ग्यारहवें पति के साथ विवाह कर देने के लिए कहा। पिता ने उसको समझाया कि तेरा भाग्य अच्छा नहीं है, अब तू विवाह का नाम मत ले, पुत्री ने नहीं माना और विवाह के लिए आग्रह किया, तब लाचार होकर पिता ने यह ग्यारहवां विवाह भी कर दिया। विवाह के पश्चात् उसका यह ग्यारहवां पति भी मृत्यु का ग्रास हुआ। इसके पश्चात् वह बारहवां विवाह और भी करती, पर लज्जा के मारे अब उसका साहस न हुआ और वह योगिनी बन गई। (देखो कथासरित्सागर तरङ्ग ६६)

सम्भव है कि तीसरा और पांचवां उदाहरण दैववादियों को यह विश्वास दिलाने के लिए दिया गया हो कि भाग्य के सामने पुरुषार्थ की कुछ नहीं चलती। चाहे किसी उद्देश्य से पद्मपुराण और कथासरित्सागर में इनका उल्लेख किया गया हो, पर इनसे यह तो अवश्य ही सिद्ध होता है कि भाग्य-वादियों ने भी पुरुषार्थ की यथासमय परीक्षा की है, चाहे उनमें सफलता हुई हो वा न हुई हो।

छठा उदाहरण मेवाड़ के प्रसिद्ध राना हम्मीर का है; जिसने दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी की सेना को परास्त करके चित्तौड़ पर पुनः अपना अधिकार जमाया था। इस प्रतापी राना ने सरदार मालदेव की (जो बादशाह की ओर से चित्तौड़ का शासक नियत किया गया था) विधवा पुत्री से अपना विवाह किया। यद्यपि यह विवाह मालदेव ने राना को धोखा देकर उसके साथ किया, तथापि पीछे राना

को मालूम हो जाने पर उसने उसको अस्वीकार नहीं किया और मालदेव की वह विधवा कन्या राना की प्रियपत्नी हुई और उसी की सहायतासे राजा ने चित्तौड़ का मालदेव के हाथ से उद्धार किया। (देखो टाड राजस्थान का सार शिवव्रतलालकृत पृ०६४-६५-६६)।

सातवां उदाहरण परशुराम भाऊ पटवधन का है। ये महाराष्ट्र के कुलीन ब्राह्मण थे, इनकी कन्या ८ वर्ष की उमर में विधवा हो गई। इन्होंने राजपण्डित रामशास्त्री से व्यवस्था लेकर एक कुलीन ब्राह्मण के साथ उसका पुनर्विवाह कर दिया। (देखो महाराष्ट्र का इतिहास)।

इत्यादि अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन ऐतिहासिक उदाहरण विधवाविवाह की पुष्टि में मौजूद हैं। विशेष परिशिष्ट भाग में मिलेंगे।

दूसरा अध्याय।

आक्षेप और उनका समाधान।

शास्त्र के आधार पर किये जाने वाले आक्षेप।

अब हम उन आक्षेपों की कुछ पड़ताल करना चाहते हैं, जो विधवाविवाह के विपक्षी इसके विरुद्ध किया करते हैं और यह देखना चाहते हैं कि उनके आक्षेप और तर्क कहां तक युक्ति और शास्त्र के अनुकूल हैं। वे आक्षेप दो प्रकार के हैं, एक तो वे जो शास्त्र के आधार पर किए जाते हैं, दूसरे वे जो युक्ति वा रूढ़ि का आश्रय लेकर किये जाते हैं। पहले हम शास्त्र की आड़ लेकर किये जानेवाले आक्षेपों की जांच करेंगे। उस आक्षेप का (जिसके द्वारा वे इसको शास्त्रविरुद्ध बतलाकर सर्वसाधारण की शास्त्र पर श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं) समाधान हम पहले अध्याय में सप्रमाण और सविस्तर कर चुके हैं। अब अन्य आक्षेप जो उनकी ओर से किये जाते हैं, उनकी बानगी भी पाठकों को दिखलाते हैं।

कलियुग का पचड़ा।

पहला आक्षेप उनका यह है कि चाहे अन्य युगों में विधवा-विवाह निषिद्ध न हो, पर कलियुग में उसका निषेध होने से वह निन्दनीय है। जब उनसे पूछा जाता है कि इसको कलि-निषिद्ध किसने ठहराया है? तब वे बृहन्नारदीयपुराण के निम्न लिखित वचन प्रमाण में प्रस्तुत करते हैं :—

समुद्रयात्रास्वीकारः कमण्डलुविधारणम् ।
द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा ॥
देवरेण सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के पशोर्वधः ।
मांसादनं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा ॥
दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च ।
दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ ।
महाप्रस्थान गमनं गोमेधञ्च तथा मखम् ।
इमान्धर्मान्कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥ (१)

(पराशरभाष्योद्धृत बृहन्नारदीय पुराणवचन)

इसी से मिलती जुलती एक सूची आदित्यपुराण में भी दी गई है और माधव ने पराशरभाष्य में निम्नलिखित क्रतु का वचन भी उद्धृत किया है :—

देवराच्च सुतोत्पत्तिर्दत्ता कन्या न दीयते ।
न यज्ञे गोवधः कार्यः कलौ न च कमण्डलुः ॥ (२)

समीक्षा—यह स्मृति और पुराण का विरोध नहीं कहला सकता। क्योंकि "दी हुई वस्तु का पुनर्दान नहीं करना चाहिए"

---

(१) १ समुद्रयात्रा, २ संन्यास, ३ द्विजों में असवर्ण विवाह, ४ देवर से पुत्रोत्पत्ति, (नियोग) ५ मधुपर्क में पशुवध ६ श्राद्ध में मांसभोजन, ७ वानप्रस्थाश्रम, ८ दी हुई कन्या का पुनर्दान, ९ दीर्घकालिक ब्रह्मचर्य १० नरमेध, ११ अश्वमेध, १२ महाप्रस्थान, १३ गोमेध—ये धर्म कलियुग में वर्जित हैं।

(२) कलियुग में देवर से पुत्रोत्पत्ति, दी हुई कन्या का दान, यज्ञ में गोवध और संन्यास नहीं लेना चाहिये।

यह सामान्य आज्ञा है, जिसको उत्सर्ग कहते हैं । यदि इसका कोई अपवाद न हो तो निःसन्देह यह आज्ञा पालनीय है । परन्तु इस सामान्य आज्ञा से यह समझना कि यह सब दशाओं में निरपवाद और निरवकाश है, भारी भूल है। यदि ऐसा होता तो नारद अपनी स्मृति में इसके १६ अपवाद न लिखता, और याज्ञवल्क्य तथा शातातप आदि स्मृतिकार दान की हुई कन्या को अयोग्य वर से छीनकर योग्य वर को पुनर्दान करने की व्यवस्था न देते, जैसा कि हम पूर्व अध्यायमें दिखला चुके हैं ।

लोक और शास्त्र दोनों में विधि और निषेध के अपवाद होते हैं, उनको छोड़कर ही उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है । लोक में—जैसे किसी ने कहा कि "नित्य व्यायाम करना चाहिए" इसका यह अर्थ नहीं है कि जब हमारा शरीर अस्वस्थ हो, तब भी हमारे लिए व्यायाम आवश्यक है ऐसे ही यदि कोई किसी से कहे कि "किसी पर कभी हाथ न चलाओ" तो इसका यह आशय कदापि नहीं हो सकता कि हम आततायी का भी निवारण न करें । इसी प्रकार शास्त्र की आज्ञा है "सत्यं ब्रूयात्" इसी का अपवाद उसमें मौजूद है । "न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्" तथा शास्त्र में निषेध किया गया है । "माहिंस्यात्सर्वाणि भूतानि" इसका अपवाद भी उसी शास्त्र में मौजूद है । "अश्वमेधेन यजेत, पशुना रुद्रं यजेत ।" इत्यादि

अतएव इन पुराण वचनों में जो बातें कलिनिषिद्ध कही गई हैं, यदि इस समय उनका कोई अपवाद न हो तब तो उनके मानने में कोई आपत्ति नहीं है । जैसे कि मधुपर्क में पशु का मारना, नरमेध, गोमेध, और अश्वमेधयज्ञ, श्राद्ध में मांस-भोजन, नियोग और महाप्रस्थान । ये बातें चाहे पूर्वकाल में यहाँ बुरी न समझी जाती हों और कहीं कहीं प्रचलित भी हों

पर आजकल की हिन्दूसभ्यता कदापि इनका अनुमोदन नहीं कर सकती। यदि इनका किसी शास्त्र में विधान भी हो तो भी आजकल की स्थिति में इनका प्रचार अवाञ्छनीय है और हम समझते हैं कि इसी लिए इनको कलिवर्ज्य कहकर इनसे हमारा पिण्ड छुड़ाया गया है। पर समुद्रयात्रा, संन्यासधारण, वानप्रस्थाश्रम, असवर्णविवाह, पुनर्विवाह और दीर्घकालिक ब्रह्मचर्य इनको भी उसी सूची में शामिल करना, चाहे उस समय की स्थिति के विरुद्ध न हो, पर आजकल की परिस्थिति में किसी जाति को इनसे रोकना न तो सम्भव है और न उसके लिए श्रेयस्कर ही है। यही कारण है कि कहीं कहीं इनका आंशिक निषेध होते हुवे भी ये आजतक वर्जित न हो सके और न हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जब शास्त्रों में ही इनके अनेक अपवाद भी विद्यमान हैं, तथा लोकाचार भी इनका पोषण करता है, तब कलिवर्ज्य कह कर इनको निषिद्ध ठहराना शास्त्र का केवल दुरुपयोग करना है।

दूसरे यदि हम इन पुराणवचनों के अनुसार विधवाविवाह को कलिवर्ज्य मान भी लें तब भी जब श्रुति और स्मृतियों में उसका प्रतिपादन किया गया है, जैसा कि पहले अध्याय में दिखाया जा चुका है, उसके मुक़ाबले में इन एक या दो पुराण वचनों का कुछ मूल्य नहीं हो सकता, यह बात हम नहीं कहते, किन्तु अष्टादश पुराणों के कर्त्ता व्यासजी महाराज महाभारत में स्वयं इसकी व्यवस्था देते हैं:—

श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते।
तत्र श्रौतं प्रमाणन्तु तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा॥ (१)

---

(१) श्रुति, स्मृति और पुराण, इन तीनों में विरोध हो तो श्रुति का

अतएव इस आर्यव्यवस्था के अनुसार ही श्रुति स्मृति प्रतिपादित विधवाविवाह के निषेध में ऐसे वचन कदापि पर्याप्त नहीं हो सकते।

तीसरे अच्छा अब हम यह भी देखना चाहते हैं कि जिन आचारों को इन पुराणवचनों में कलिनिषिद्ध ठहराया गया है, कलियुग के आरम्भ से लेकर अब तक इस देश के कुलीन और द्विज लोगों ने कहां तक उनको अपने आचरण में वर्जित किया है?

प्रथम अश्वमेध ही को लीजिये—पाण्डवों का जो कलि-युगारम्भ होने के ६५० वर्ष बाद हुवे, अश्वमेधयज्ञ और उसके लिए दिग्विजय करना एक ऐसी प्रसिद्ध बात है कि महाभारत से लेकर अनेक पुराणों तक में इसका सविस्तर वर्णन किया गया है। यदि वह कलिवर्ज्य था तो क्यों युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा ने इसका अनुष्ठान और कृष्ण जैसे महात्मा ने इसका अनुमोदन किया? क्या ये लोग धर्मशास्त्र की आज्ञा से अन-भिज्ञ थे?

इनको भी जाने दीजिए। राजा शूद्रक ने जो विक्रमादित्य से कुछ पहले हुआ है, अश्वमेध ही नहीं, किन्तु महाप्रस्थान भी किया :—

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां।
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य॥

प्रमाण माननीय है और स्मृति तथा पुराण के विरोध में स्मृति का प्रमाण मुख्य है।

राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा ।
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितंशूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥ (१)

(देखो मृच्छकटिक नाटक की प्रस्तावना)

इस लेख के अनुसार राजा शूद्रक ने एक ही नहीं, किन्तु अश्वमेध और महाप्रस्थान दो कलिवर्ज्य आचारों का अनुष्ठान किया और भी देखिए, कठक के राजा प्रवरसेन ने चार बार अश्वमेध किया:—

"चतुरश्वमेधयाजिनः विष्णुवृद्धसगोत्रस्य सम्राजः काठकानां राज्ञः श्रीप्रवरसेनस्य" (२)

(जरनल एशियाटिक सोसाइटी नवेम्बर १८७६ पृ० ७२८)

कौन नहीं जानता कि भगवान् बुद्ध के पहले यहां सैकड़ों अश्वमेध यज्ञ होते थे ? और यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वैदिक यज्ञ और उनकी हिंसा ही यहां बौद्धमत की उत्पत्ति और प्रचार का कारण हुई। तो क्या ये सब राजे महाराजे तथा ब्राह्मण और पुरोहित वर्ग, जिन्होंने कलियुग में अश्वमेध यज्ञ किये वा कराये, शास्त्र से अनभिज्ञ और पापभागी थे? कदापि नहीं, ऐसा कहना मूर्खता और पाप है।

दूसरे अब समुद्रयात्रा को लीजिए, यह भी यहां न पहले वर्जित थी और न अब। वैदिक काल में यहां अनेक प्रकार के

(१) शूद्रक राजा ने ऋग्वेद, सामवेद, गणित, वेश और हस्तिकला की शिक्षा पाकर और शिवजी के प्रसाद से दोनों आंखें और सौ वर्ष की आयु पाकर अश्वमेध यज्ञ करके पुत्र को राज देकर अग्नि में प्रवेश (महाप्रस्थान) किया।

(२) काठकों के राजा, विष्णुवृद्ध के सगोत्र प्रवरसेन ने चार वार अश्वमेध यज्ञ किए।

पोत युद्ध और व्यापार के लिए चलते थे, जिनका वर्णन ऋग्वेद के कई सूक्तों में शतारित्रा और स्वरित्रा आदि नामों से आया है। इसको भी जाने दीजिए, काश्मीर के राजा मिहिर कुल ने सिंहलद्वीप (लंका) के राजा की पुत्री से विवाह किया था और उसकी चोली में उसके पिता का पादचिन्ह देख कर वह बड़ा क्रुद्ध हुवा और अपनी सेना लेकर समुद्र मार्ग से लंकापर चढ़ गया।

इसका वर्णन राजतरङ्गिणी के प्रथम तरङ्ग में इस प्रकार किया गया है :—

राजातु देवीं संवीतसिंहलांशुककञ्चुकाम्।
हेमपादाङ्कितकुचां दृष्ट्वा जज्वाल मन्युना॥
सिंहलेषु नरेन्द्रांघ्रिमुद्राङ्कः क्रियते पटः।
इतिकञ्चुकिना पृष्टे नोक्तो यात्रां व्यधात्ततः॥
स सिंहलेन्द्रेण समं संरम्भादुदपाटयत्।
चिरेण चरणस्पृष्टप्रियालोकनजां रुषम्॥ (१)

(राजतरंगिणी १। २९६-२९७-२९८)

इसके पश्चात् काश्मीर के दूसरे राजा जयापीड़ ने जल-पोतद्वारा पश्चिम और दक्षिण समुद्रों में ससैन्य यात्रा की थी, इसका वर्णन राजतरंगिणी के चतुर्थ तरंग में सविस्तर दिया

(१) वह राजा मिहिरकुल रानी को सिंहलराज के पादचिन्ह से युक्त चोली पहने देखकर क्रोध से जल गया। पूछने पर अंतःपुररक्षक ने कहा, महाराज ! सिंहलदेश में यह रिवाज है कि प्रत्येक व्यक्ति (चाहे वह स्त्री हो या पुरुष) राजा के पादचिन्ह से युक्त वस्त्र को धारण करता है। यह सुन कर मिहिरकुल ने सिंहल पर चढ़ाई कर दी और सिंहलेन्द्र से अपनी स्त्री के इस अपमान का बदला लिया।

हुवा है। यदि समुद्रयात्रा कलिवर्ज्य होती तो ये नृपतिगण विदेशोंमें क्यों जाते ? दूर क्यों जाते हो, अबतक हज़ारों लाखों उच्च कुलाभिमानी हिन्दू जगन्नाथ, रामेश्वर और द्वारिका के दर्शनार्थ समुद्रयात्रा करते हैं, उनसे कोई नहीं कहता कि तुम यह शास्त्रविरुद्ध आचार क्यों करते हो ? प्रत्युत ऐसे लोग हिन्दूसमाज में बड़े धर्मात्मा समझे जाते हैं ? अभी थोड़े दिन की बात है, हिन्दूधर्मरक्षक श्रीमान् महाराजा जयपुर अपने पण्डितों और पुरोहितों को भी साथ लेकर यूरोप की यात्रा कर आये थे, और स्वर्गीय श्रीमान् पं० बालगंगाधर तिलक भी जो सनातनधर्म के भूषण थे, मृत्यु से कुछ दिन पूर्व यूरोप की यात्रा कर आये थे। क्या इन लोगों का यह काम शास्त्रविरुद्ध था ?

तीसरे असवर्ण विवाह को भी कलिवर्ज्य की सूची में रक्खा है। यद्यपि स्मृतियों में और पुराणों में भी सवर्णविवाह को श्रेष्ठ माना गया है तथापि असवर्णविवाह का विधान उनमें बराबर मौजूद है। अनुलोमविवाह की तो सब स्मृतिकार एक स्वर से पुष्टि करते हैं, पर पुराणों में कहीं २ प्रतिलोम विवाह के भी उदाहरण मिल जाते हैं। दूर क्यों जाते हो, राजा 'भरत' जिसके नाम से इस देश का नामकरण 'भारत' हुवा है, इसी प्रतिलोमविवाह का फल था। सब जानते हैं कि कण्व पुत्री शकुन्तला ब्राह्मणी और भरत का पिता दुष्मन्त क्षत्रिय था। रही रिवाज और कानून की बात, सो ये दोनों समाज के हाथ में हैं। समाज अपनी दशा के अनुसार सदा रिवाज चलाता और क़ानून बनाता है। रिवाज और क़ानून के अनुकूल न होते हुवे भी हिन्दू अब धड़ाधड़ असवर्ण विवाह कर रहे हैं। भारतीय कौंसिल में भी डाक्टर गौड़ का बिल पास

हो चुका है, तो क्या इसकी प्रगति को अब हम कलिवर्ज्य कह कर रोक सकते हैं ? निदान जब पूर्वकाल में भी जबकि हमारा जातीय क्षेत्र बहुत ही संकुचित था और अन्यजातियों से विशेष सम्बन्ध न था, हम विजातीयों के संसर्ग से न बच सके और हमको विवश होकर आर्य और द्विजों के संघ (जिनमें क्रमशः चार और तीन वर्ण शामिल हैं) बनाने पड़े, तो क्या अब इस विक्रम के बीसवें शतक में, जब कि जातियां परस्पर मिलकर राष्ट्र और महाराष्ट्र बना रही हैं, हम स्वदेश बान्धवों को ही अपना मित्र न बना सकेंगे ?

चौथे अब रहा दीर्घकालिक ब्रह्मचर्य। कौन नहीं जानता कि देवव्रत भीष्म ने जो कलियुग में हुवे, आजन्म ब्रह्मचर्य्य धारण किया ? क्या भीष्म जैसे धर्मप्रवक्ता से यह आशा की जा सकती थी कि उन्होंने जान बूझकर शास्त्र की आज्ञा का उपमर्द किया ? इसके अतिरिक्त पुराणों और इतिहासों में शतशः कुमार और कुमारियों का वर्णन आता है, जिन्होंने दीर्घकाल की तो कथा ही क्या है आजन्म ब्रह्मचर्य धारण किया। कौन नहीं जानता कि सनत्कुमार, शुकदेव और दत्तात्रेय आजन्म ब्रह्मचारी रहे। पुरुष तो पुरुष स्त्रियां भी आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करती थीं। महाभारत में सुलभा ब्रह्मचारिणी का वर्णन है, जो राजा जनक से कहती है

साहं तस्मिन् कुले जाता भर्त्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्॥ (१)

(शान्तिपर्व अ० ३२१)

(१) मैं उस कुल में उत्पन्न हुई हूं, सदृश पति के न मिलने पर मैंने मोक्ष के लिए आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है।

इनको भी जाने दीजिये, राजा सुवस्तु ने श्रीहर्ष नामक जो शिव का मन्दिर वैक्रम संवत् १०१८ में बनवाया था, उसके पत्थर में यह पद्य खुदा हुवा है:—

आजन्म ब्रह्मचारी दिगमलवसनः संयतात्मा तपस्वी ।
श्रीहर्षाराधनैकव्यसनशुभमतिस्त्यक्त संसारमोहः ।
आसीद्यो लब्धजन्मा नवतरवपुषां सत्तमः श्रीसुवस्तु-
स्तेनेदं धर्मभाजा सुघटितविकटं कारितं हर्षहर्म्यम् ॥ (१)

(जनरलएशियाटिक सोसाइटी जुलाई १८३५ पृ० ३७८)

इससे प्रकट है कि विक्रम की दसवीं शताब्दी तक यहां न केवल ब्राह्मण लोग, किन्तु राष्ट्रपति क्षत्रिय लोग भी आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करते थे। आजकल भी बहुत से नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते हैं, जो हिन्दूसमाज में बड़े पवित्र और श्रेष्ठ समझे जाते हैं। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि जो लोग शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करें वे ही हिन्दूसमाज में पुनीत और श्रेष्ठ समझे जावें ?

इसके अतिरिक्त यह कैसी विचित्र बात है कि इधर तो कलियुग में दीर्घकाल के ब्रह्मचर्य का निषेध किया जाता है, उधर विधवाविवाह भी कलिनिषिद्ध ठहराया जाता है। अब बतलाइये, कलियुग में बिचारी विधवायें क्या करें ? यदि कहो कि पति का अनुगमन करें, प्रथम तो इसमें शास्त्रों का मतभेद है, कोई शास्त्र इसकी आज्ञा देते हैं और कोई निषेध करते हैं। यदि

(१) जो राजा सुवस्तु आजन्म ब्रह्मचारी, दिगम्बर, जितेन्द्रिय, तपस्वी, श्रीहर्ष देव का उपासक, संसार से विरक्त और रूपवानों में अन्यतम था, उसी धर्मात्मा ने यह श्रीहर्ष का सुन्दर मन्दिर निर्माण कराया है।

हम विरोध की उपेक्षा करके यही मान लें कि सब शास्त्र अनुगमन की आज्ञा देते हैं, तो भी जब यह राजनियम के विरुद्ध है, तब हज़ार शास्त्र की आज्ञा होते हुवे भी हम इसका पालन करने में सर्वथा असमर्थ हैं। कैसी विचित्र समस्या है! शास्त्र तो इनको ब्रह्मचर्य और विवाह दोनों से रोकता है, राजनियम इनको मरने से रोकता है। पाठक! अब आप ही बतलाइये कि वह चौथी कौन सी गति है जिसका ये निरपराध बालविधवायें अवलम्बन करके अपने दुःसह जीवन को व्यतीत करें।

यदि स्वर्ग से साक्षात् देवगुरु बृहस्पति भी आकर किसी से यह कहें कि तुम्हारे लिए एक ही समय में ब्रह्मचर्य और विवाह दोनों बातें निषिद्ध हैं, तो उनकी इस बात पर लोग हंसे बिना न रहेंगे और कहेंगे कि इनका मन स्वस्थ और बुद्धि ठिकाने नहीं है। पर कैसे आश्चर्य का स्थान है कि आज डारविन के विकासवाद और स्पेन्सर के अज्ञेयवाद को चुटकियों में उड़ानेवाले, ऐसे परस्पर विरुद्ध और उन्मत्तजल्पित प्रमाणाभासों के आधार पर लाखों बालविधवाओं के जीवन को कण्टकाकीर्ण बना रहे हैं। अतएव न्याय और विवेक दोनों यह कहते हैं कि इस कलिवर्ज्य की सूची में से एक को अवश्य निकालना पड़ेगा। यदि विधवाविवाह को इस सूची में रखना चाहते हैं तो ब्रह्मचर्य को इससे पृथक् करना होगा, और यदि ब्रह्मचर्य को इसमें रखना चाहते हैं, तो विधवाविवाह को इसमें से अलग करना होगा। यह कदापि नहीं हो सकता कि ये दोनों एक साथ इस सूची में रह सकें। क्योंकि ब्रह्मचर्य के निषेध से विवाह और विवाह के निषेध से ब्रह्मचर्य का विधान स्वयमेव हो जाता है।

पांचवां संन्यास भी कलिवर्ज्य की सूची में रक्खा गया है। अब प्रश्न यह है कि इन पुराणवचनों के अनुसार यदि संन्यास का धारण करना कलियुग में निषिद्ध है तो सब से पहले वैदिकधर्म के प्रवर्त्तक भगवान् आदि शङ्कराचार्य ने जिनकी लोकोत्तर विद्वत्ता और योग्यता का सब हिन्दू परम आदर करते हैं, क्यों संन्यास धारण किया ? क्या श्री१०८ स्वामी शंकराचार्य कलियुग में नहीं हुवे और फिर आज तक उनकी इस शास्त्रविरुद्ध परिपाटी का उनके उत्तराधिकारी चारों मठों के आचार्य और उनकी अनेक शाखायें क्यों अनुसरण करती हैं ? अतः पश्चात् श्रीस्वामी रामानुजाचार्य, श्रीमाधवाचार्य, विद्यारण्य, परमहंस स्वामी रामकृष्ण, स्वामी तैलङ्ग, स्वामी भास्करानन्द और स्वामी विशुद्धानन्द आदि अनेक गण्यमान्य पुरुषों ने इस शास्त्रविरुद्ध आचार का क्यों आजीवन पालन किया ? क्या ये महात्मा कलियुग में नहीं हुवे ? यदि हुवे हैं तो इन्होंने क्यों कलिवर्ज्य आचार को ग्रहण करके पुराण के इन वचनों का अनादर किया ?

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिन्दूशास्त्र के अनुसार केवल ब्राह्मण ही संन्यास लेने के अधिकारी हैं। आजतक जितने प्रसिद्ध संन्यासी हुवे हैं, वे सब ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों का काम प्रत्येक युग में धर्म की मर्यादा को स्थापन करना है, न कि तोड़ना। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि कलियुग में निषिद्ध संन्यास को धारण करके सब से पहले पूज्य ब्राह्मणों ने ही धर्म की मर्यादा को तोड़ा. फिर अन्य वर्ण उसका पालन कैसे कर सकते हैं ?

अब हम विधवाविवाह को कलिवर्ज्य कहने वालों से पूछ सकते हैं कि जब आप लोगों ने इन पुराणोक्त कलिनिषिद्ध

आचारों को कलियुग के लिए न केवल स्वीकार किया है, किन्तु धर्म का अङ्ग मान लिया है, तब एक विधवाविवाह ने ही ऐसा क्या अपराध किया है कि जिसकी सबसे अधिक आवश्यकता होते हुवे भी आप अभी तक वही कलिवर्ज्य का राग अलापे जाते हैं। हम यह नहीं कहते कि आप विधवाविवाह पर कुछ दया या रिआयत करें, पर यह कहाँ का न्याय है, जिस क़ानून में एक साथ चार बातें निषिद्ध ठहराई गई हैं, उनमें से दो को तो आप अलग कर दें और दो के लिए उस क़ानून को लागू रक्खें। यदि उस क़ानून को आप आवश्यक समझते हैं, तो जिन बातों का उसमें निषेध किया गया है, उन सब के लिए उसका प्रयोग होना चाहिए, अन्यथा यदि एक बात के लिए भी आप उसे ढीला कर देंगे तो फिर दूसरी बातों के लिए वह स्वयं ढीला पड़ जायगा।

विवाह की छूत।

दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि शास्त्रों में पुरुष को ऐसी कन्या के साथ विवाह करने की आज्ञा दी गई है, जो विवाहिता न हो। इस पर विपक्षी याज्ञवल्क्य का यह प्रमाण प्रस्तुत करते हैं:—

अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥ (१)

(याज्ञवल्क्यस्मृति १। ५२)

समीक्षा—याज्ञवल्क्यादि स्मृतिकारों ने विवाह से पहले वर और कन्या की परीक्षा करना लिखा है। यदि हम लोग

---

(१) जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित नहीं हुवा है, वह ऐसी सुलक्षणा स्त्री से विवाह करे जो अन्यपूर्वा न हो, दर्शनीया हो, माता की ६ पीढ़ी में न हो, अपने से छोटी हो।

इस पर ध्यान देते तो आज हमारे गृहस्थाश्रम की यह दुर्दशा न होती। पर हमने तो शपथ ली हुई है कि अच्छी बातों के लिए शास्त्र की निर्विवाद आज्ञा भी न मानेंगे। पर बालविधवाओं का जीवन व्यर्थ बनाने में हम अर्थ का अनर्थ करने में भी त्रुटि नहीं करेंगे। याज्ञवल्क्य ने प्रस्तुत पद्य में उस ब्रह्मचारी को जिसका ब्रह्मचर्यव्रत नष्ट नहीं हुवा है, कुमारी से विवाह करने की आज्ञा दी है, इससे सिद्ध है कि वह पुरुष जिसका ब्रह्मचर्यव्रत भङ्ग हो चुका है, याज्ञवल्क्य की दृष्टि में कदापि कुमारी के साथ विवाह करने का अधिकारी नहीं है। बड़े आश्चर्य की बात है कि यह वाक्य उन बालविधवाओं के विरुद्ध प्रस्तुत किया जाता है, जो यह भी नहीं जानतीं कि पति किसको कहते हैं और विवाह क्या वस्तु है! पर इसके द्वारा एक ६० वर्ष का बूढ़ा जो चार कुमारियों की भेंट लेचुका है, पाँचवीं कुमारी से विवाह करने का अपना अनिवार्य स्वत्व समझता है। यदि इसके अनुसार कन्याओं के लिए विवाह की छूत मानी जाये तो पुरुष भी कदापि उस छूत से न बच सकेंगे। क्योंकि इसमें जहां कन्या के लिए 'अनन्यपूर्विका' विशेषण दिया गया है, वहां पुरुष को भी 'अविप्लुत ब्रह्मचर्य' के विशेषण से अलंकृत किया गया है। यदि भ्रष्ट ब्रह्मचर्यों का विवाह और वह भी कुमारी कन्याओं के साथ इसके विरुद्ध नहीं, तो ऐसी बालविधवाओं के विवाह को जिनका ब्रह्मचर्य भी सुरक्षित है, ब्रह्मा भी इसके विरुद्ध सिद्ध नहीं कर सकता। शास्त्रकारों ने विवाह से पहले जहां कन्या की परीक्षा करना लिखा है, वहां वर को भी इससे मुक्त नहीं किया। देखो आगे चलकर याज्ञवल्क्य ही वर की परीक्षा के विषय में क्या लिखता है:—

एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः ।
यत्नात् परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमान् जनप्रियः ॥ (१)
(याज्ञवल्क्य १ । ५५)

इस पद्य में याज्ञवल्क्य स्पष्ट लिखता है कि उन्हीं गुणों से जो स्त्री में होने चाहियें, वर भी युक्त हो। किन्तु वर में तो वह स्त्री से भी अधिक गुण चाहता है। अतएव याज्ञवल्क्य का उक्त पद्य केवल कुमारों का कुमारी से विवाह करने की आज्ञा देता है। इस धींगाधींगी को तो देखिए! आज वे लोग जो अपने ब्रह्मचर्य को नष्ट करके कुमारियों का पाणिग्रहण करते हैं, इसको विधवाविवाह के खण्डन में प्रस्तुत करते हैं, क्या इससे अधिक और कोई इस वचन का अनर्थ हो सकता है? याज्ञवल्क्य के इस कथन की पुष्टि बोधायन भी करता है :—

श्रुतशीलिने विज्ञाय ब्रह्मचारिणेऽर्थिने देया । (२)
(स्मृतितत्वधृतबोधायनवचन)

इसी की व्याख्यामें 'स्मृतितत्व" प्रणेता पं० रघुनन्दन भट्टाचार्य जो वङ्गदेश में स्मृतिशास्त्र के अन्यतम विद्वान् हुवे हैं, लिखते हैं :—

" ब्रह्मचारिणे अजातस्त्रीसंपर्काय जातस्त्रीसंपर्कस्य द्वितीय-

(१) इन्हीं गुणों से जो पूर्व श्लोक में स्त्री के लिए कहे गये हैं, पुरुष भी युक्त होना चाहिए। इनके अतिरिक्त वह सवर्ण हो, विद्वान् हो, जवान हो, बुद्धिमान् हो, लोकप्रिय हो और उसके पुरुषत्व की परीक्षा कर ली गई हो।

(२) परीक्षा करके शिक्षित ब्रह्मचारी को जिसका स्त्री के साथ संपर्क नहीं हुवा है, कन्या देनी चाहिये।

विवाहे विवाहाष्टकबहिर्भावापत्त स्तदुपादानं प्राशस्त्यार्थ-मिति ।"

उक्त बोधायन वाक्य की व्याख्या करता हुआ रघुनन्दन स्पष्ट लिखता है कि "जिस पुरुष का स्त्री के साथ संपर्क नहीं हुआ है, वही कुमारी कन्या का अधिकारी है; तदितर का विवाह आठ विवाहों के बहिर्गत होने से अप्रशस्त है ।" अतएव इस न्याय से भी उसी विधवा का विवाह अप्रशस्त और आठ विवाहों के बहिर्भूत हो सकता है, जिसका ब्रह्मचर्यव्रत भङ्ग हो चुका है न कि ब्रह्मचारिणी का ।

पाठक ! अब आप न्याय कीजिए, जब याज्ञवल्क्य और बोधायन दोनों स्मृतिकार केवल ब्रह्मचारी को कुमारी से विवाह करने की आज्ञा देते हैं तो फिर ये दुहेजिये और तिहेजिये जो कुमारी कन्याओं पर टूटते हैं क्या यह शास्त्र की आज्ञा का उपमर्द नहीं है ? पुरुष तो खुल्लम खुल्ला शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन और ब्रह्मचारियों के स्वत्व का अपहरण करते हुवे शास्त्र की अनुयायिता का दम भरें, पर बिचारी विधवायें सर्वथा शास्त्र की आज्ञा को पालती हुई और कभी भूल कर भी अपनी कुमारी बहनों के स्वत्व पर आघात न करती हुई केवल उन पुरुषों से विवाह करने में भी जो शास्त्र की आज्ञानुसार कुमारी को ग्रहण करने के कदापि अधिकारी नहीं हैं, पापिनी और शास्त्र की मर्यादा को तोड़नेवाली समझी जांय ! उनके लिए बुढ़ापे में भी विवाह की रोक न हो और इनके लिए बालकपन में ही उसकी छूत मानी जाय ! भगवन् ! जिस समाज में शास्त्र का ऐसा अनर्थपूर्ण दुरुपयोग किया जाय, उसकी रक्षा उसको सुमति प्रदान कर आपही कर सकते हैं ।

विवाह की विधि।

तीसरा आक्षेप यह किया जाता है कि यदि विधवाविवाह शास्त्रसम्मत होता, तो शास्त्र में उसकी स्वतंत्र विधि भी वर्णन की गई होती। जो कि शास्त्र में उसकी कोई पृथक् विधि नहीं है, अतएव वह अवैध है।

समीक्षा—यदि विधवाओं के पुनर्विवाह की शास्त्र में पृथक् विधि नहीं है तो रण्डुवों के पुनर्विवाह की भी शास्त्र में कोई विधि नहीं है। यदि रण्डुवों का पुनर्विवाह विवाह की विधि और मन्त्रों से किया जा सकता है तो फिर विधवाओं के पुनर्विवाह में वे मन्त्र और विधि क्यों पर्याप्त नहीं ? क्या उन मन्त्रों और विधि में कहीं यह लिखा है कि ६० वर्ष के बूढ़े बाबा का चौथा या पांचवा विवाह तो इनके अनुकूल है, पर आठ वर्ष की विधवा कन्या का दूसरा विवाह इनके प्रतिकूल ? मन्त्र और विधि में स्त्री पुरुषों के लिए कुछ भेद नहीं हो सकता। विवाह के जो मन्त्र और विधान जिस दशा में पुरुषों के लिए वैध हैं, उसी दशा में वे स्त्रियों के लिए अवैध कदापि नहीं हो सकते। जब प्रायः शास्त्रकार स्त्रियों के पुनर्विवाह की आज्ञा देते हैं और उसको संस्कार भी मानते हैं जो बिना मन्त्रोच्चारण के हो नहीं सकता, तब विवाह से पृथक् उसकी कल्पना करना विपक्षियों की कितनी बड़ी संकीर्णता है। आश्चर्य तो यह है कि यह कल्पना केवल स्त्रियों के पुनर्विवाह के लिए की जाती है, पुरुषों के लिए कभी स्वप्न में भी इसका उदय नहीं होता। पर जब शास्त्रों में दोनों के लिए एक ही मन्त्र और विधि है, तब इस निर्मूल कल्पना से उनको कुछ लाभ नहीं पहुँच सकता। इस पर विपक्षी मनु का निम्न-लिखित प्रमाण प्रस्तुत करते हैं:—

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः (१)
(मनुस्मृति ८। २२६)

समीक्षा—मनु इस पद्य में अकन्याओं के लिए पाणिग्रहण मन्त्रों का निषेध करता है, न कि विधवाओं के लिए। पर हमारे भाइयों को साहित्य में जितने बुरे शब्द हैं, वे सब विधवा के ही पर्याय दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव जहां कहीं अकन्या, स्वैरिणी, दुर्भगा, पतिघ्नी आदि शब्द आते हैं, वे बिना आगा पीछा देखे, झट विधवा का अर्थ करने लगते हैं। आह! कैसी कृतज्ञता है, जिन विधवाओं ने अपने अलौकिक आत्मत्याग, तप और सहिष्णुता से हिन्दूधर्म की लाज रक्खी हुई है और जो अपने प्राण देकर भी इनकी कल्पित मानमर्यादा की रक्षा करती हैं, उनकी लोकोत्तर सेवाओं का यह कैसा अच्छा पुरस्कार है। अस्तु, मनु का इस पद्य में 'अकन्या' शब्द से क्या तात्पर्य है? इस पर हमको किसी अन्य प्रमाण के देने की आवश्यकता नहीं, जब कि इससे पहले पद्य में मनु ने स्वयं ही अपने आशय को स्पष्ट कर दिया है :—

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः।
सशतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन्॥ (८। २२५)

इस पद्य की टीका में कुल्लूक भट्ट लिखता है, "जो द्वेष से कन्या को अकन्या कहता है, अर्थात् उस पर व्यभिचार का दोष लगाता है, वह यदि उसके दोष को सिद्ध न कर सके तो सौ पणों से दण्डनीय है।"

---

(१) पाणिग्रहण के मन्त्र कन्याओं के ही लिए हैं, अकन्याओं के लिए नहीं, क्योंकि उनकी तो सब धर्म, क्रियायें लुप्त हो गई हैं।

क्या अब भी इसमें किसी को सन्देह हो सकता है कि मनु का तात्पर्य 'अकन्या' शब्द से उस स्त्री का है, जो विवाह से पहले व्यभिचारिणी हो चुकी है? ऐसी स्त्रियों के लिए मनु निःसन्देह पाणिग्रहण मन्त्रों का निषेध करता है। सो यह चाहे इस दशा में जब कि व्यभिचारी पुरुष ब्रह्मचारिणी कन्याओं के साथ विवाह करते हैं, अन्याययुक्त हो। पर यदि पुरुष ऐसा अनर्थ न करें तो कोई इसे अनुचित नहीं कह सकता। क्योंकि स्त्री हो वा पुरुष, जो बिना विवाह के अपनी कामचेष्टा को चरितार्थ करता है, वह पापी और व्यभिचारी है और अपने विवाह के पवित्र अधिकार को खो बैठता है। इसीलिए उक्त पद्य में उनको "लुप्तधर्मक्रियाः" का विशेषण दिया गया है। क्या उन आठ या दश वर्ष की बालविधवाओं को जो पति और विवाह के तात्पर्य को भी नहीं जानतीं, कट्टर से कट्टर दुराग्रही भी यह विशेषण देने का साहस कर सकता है? अतएव प्रस्तुत पद्य में मनु व्यभिचारिणी स्त्रियों के विवाह का निषेध करता है, न कि शास्त्र की आज्ञानुसार गृहस्थ-धर्म का पालन करने की इच्छा से विधवाओं के पाणिग्रहण का।

इसके अतिरिक्त हमारी न्यायशीला गवर्नमेन्ट ने भी हिन्दू धर्मशास्त्रज्ञों की सम्मति से जो विधवाविवाह एक्ट सन् १८५६ में पास किया है, उसकी छठी धारा में स्पष्ट लिखा है कि "जो मन्त्र और विधान हिन्दू स्त्रियों के प्रथम विवाह में पढ़े या किये जाते हैं, वे ही यदि हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह में भी बरते जावेंगे तो वह विवाह क़ानूनन जायज़ समझा जायगा।" इससे अधिक सन्तोषदायक और क्या प्रमाण हो सकता है?

'कन्या' शब्द का निर्वचन।

चौथा आक्षेप यह किया जाता है कि सब शास्त्रों में कन्या का ही दान या विवाह कहा गया है और कन्या वह है जो किसी के साथ ब्याही नहीं गई और न किसी को दान दी गई है, फिर वे स्त्रियां जिनका विवाह हो चुका है और दान की जा चुकी हैं, न तो कन्या ही कहला सकती हैं और न उनका पुनर्दान ही हो सकता है।

समीक्षा—पूर्व इसके कि इस प्रश्न का उत्तर दिया जावे, 'कन्या' शब्द का निर्वचन करना उचित जान पड़ता है। कन्यायाः कनीन च" इस पाणिनीय सूत्र (४-१-११६) के भाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं :—

"कन्या शब्दोऽयं पुंसाभिसम्बन्धपूर्वके संप्रयोगे निवर्तते।"(१)

इससे सिद्ध है कि विवाह हो जाने पर भी जब तक पुरुष-संयोग न हो, कन्यात्व निवृत्त नहीं होता। यह तो महाभाष्य-कार की सम्मति है, पर जब हम संस्कृतसाहित्य को देखते हैं, तो उसमें 'कन्या' शब्द सामान्य रीति पर दुहिता-पुत्री के लिए प्रयुक्त होता है, चाहे वह विवाहिता हो या अविवाहिता। साहित्य के अनेक स्थलों में विवाहिता के लिए भी 'कन्या' शब्द का प्रयोग किया गया है, जैसा कि कविसम्राट् कालिदास अपने निर्मित कुमार-सम्भव और रघुवंश काव्यों में लिखते हैं :—

अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी।

(१) कन्यात्व पुरुष के साथ संयोग होने से निवृत्त होता है।

सती सती योगविसृष्ट देहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे ॥ (१)

(कुमारसम्भव सर्ग १ प० २१)

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः सदृप्तः ॥ (२)

(रघुवंश सर्ग ७ प० ३५)

इन दोनों पद्यों में कालिदास ने विवाहिता सती और इन्दुमती के लिए क्रमशः 'कन्या' शब्द का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त रामायण में सीता को प्रायः "जनकतनया" और महाभारत में द्रौपदी को 'द्रुपदकन्या' उनके अन्तिम समय तक कहा गया है। लोक में भी राजपुत्री को 'राजकन्या', ब्राह्मण पुत्री को 'ब्राह्मणकन्या' और गुरुपुत्री को 'गुरुकन्या' चाहे वे विवाहिता हों या अविवाहिता, कहने की बराबर चाल है।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि 'कन्या' शब्द केवल कुमारी का ही वाचक नहीं, किन्तु वह कुमारी और विवाहिता दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, और बालविधवाओं के लिए तो नारद, वसिष्ठ और कात्यायन आदि सभी स्मृतिकारों ने निःसङ्कोच होकर इस शब्द का प्रयोग किया है, जैसा कि हम पहले अध्याय में दिखा चुके हैं। अतएव सब शास्त्रों के अनुसार बालविधवा का दान या विवाह कन्या का ही दान या विवाह है। जो बाल-विधवाओं को कन्या नहीं मानते, या उनको अकन्या कहते हैं, वे महापापी हैं और मनु की व्यवस्था के अनुसार दण्डनीय हैं।

---

(१) दक्ष की कन्या शिव की पूर्वपत्नी सती ने पिता के अपमान से अपना देह छोड़ कर हिमालय के घर जन्म लिया।

(२) भोजकन्या इन्दुमती को विवाह कर ले जाते हुवे रघु को मार्ग में अभिमानी राजाओं ने रोका।

कन्यादान ।

पाचवाँ आक्षेप यह किया जाता है कि एक बार कन्यादान करके पुनः उसका दान करना शास्त्रविरुद्ध है, जैसा कि मनु ने कहा है :—

> न दत्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः ।
> दत्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥ (१)
> (मनु० ९ । ७१)

जब माता, पिता वा किसी सगोत्रने एकवार कन्यादान करके किसी को दे दी, तब उसमें उनका स्वत्व नहीं रहा, फिर वे पुनः उसको कैसे दान कर सकते हैं ?

समीक्षा—कन्यादान को भी और दानों की भांति समझना यह एक ऐसी भूल या भ्रान्ति है, जो हम से बड़े २ पाप और अनर्थ कराती है और इससे शास्त्रों की अवज्ञा भी होती है। यद्यपि शास्त्रों में औपचारिक रीति पर कन्या के लिए भी दान का शब्द आता है, तथापि उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि जिस प्रकार अन्य स्थावर या जङ्गम सम्पत्ति का दान किया जाता है, वैसा ही कन्यादान को भी समझा जाय। कन्यादान के विशिष्ट दान होने में निम्नलिखित कारण हैं:—

प्रथम—जिसकी जो वस्तु है, वही उसको दान कर सकता है, अन्य किसी को उसके दान करने का अधिकार ही नहीं, जैसा कि मनु लिखता है :—

> अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा ।

(१) किसी को कन्या देकर फिर न दे, देकर फिर देने से मनुष्य झूठा होता है ।

अकृतः सतु विज्ञेयो व्यवहारे यथास्थितिः ॥ (१)
(मनु० ८ । १९९)

मनु की इस आज्ञा के अनुसार जो जिस वस्तु का स्वामी नहीं है, वह न उसका दान कर सकता है और न विक्रय । पर कन्यादान के विषय में यह बात नहीं है । शास्त्र की आज्ञानुसार माता पिता के अभाव में उसे बान्धव और ज्ञाति के लोग भी दान कर सकते हैं ।

यदि कन्यादान भी और दानों के समान होता तो माता पिता के सिवाय अन्य को उसके दान करने का अधिकार न था, कन्यादान अड़ोसी पड़ोसी तक करते हैं । इससे सिद्ध है कि विवाह को पवित्र और धार्मिक बनाने के लिए ही कन्यादान की योजना उसमें की गई है, वस्तुतः कन्यादान दान नहीं ।

दूसरे—प्रत्येक स्वामी को अपनी वस्तु के देने न देने या बेचने न बेचने का पूर्ण अधिकार होता है, पर कन्या के विषय में यह बात नहीं है । माता पिता यदि कन्या को देना न चाहें या उसे बेचना चाहें तो यही नहीं कि इन दोनों बातों का उन्हें अधिकार नहीं, किन्तु शास्त्र इसको पाप बतलाता है । मनु लिखता है:—

अदीयमाना भर्त्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति ॥ (२)
(मनु० ९ । ९१)

---

(१) जो जिस वस्तु का स्वामी नहीं है, उसका किया हुवा दान वा विक्रय ऐसा समझना चाहिए कि मानो वह किया ही नहीं गया, यही व्यवहार है ।

(२) यदि दान न की हुई कन्या स्वयं पति के पास चली जावे तो न तो उसको पाप लगता है और न उसके पति को ।

माता पिता से न दी हुई कन्या यदि आप अपना विवाह कर ले तो वह और उसका पति दोनों निर्दोष हैं। यह तो रही दान की बात, अब रहा विक्रय, सो मनु तो आर्षविवाह में जो गोमिथुन वर से लेकर कन्या को देने की चाल पहले से चली आती थी, उसका भी निषेध करता है। यथाः—

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोऽप्येवं महान् वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥ (१)
(मनु० ३-५३)

अन्य शास्त्र भी सब इस विषय में मनु से सहमत हैं, कोई भी कन्या को दान न करने या बेचने का अधिकार मातापिता को नहीं देता। क्या किसी अन्य वस्तु को भी दान न करने या बेचने से उसका स्वामी पापी होता है? अतएव कन्या पर माता पिता का न तो वैसा स्वामित्व ही है, जैसा अन्य पदार्थों पर होता है और न कन्यादान अन्य दानों के समान है।

कन्यादान साधारण दान नहीं, इसकी पुष्टि वेद भगवान् भी करते हैं। कन्यादान के समय जो मन्त्र पढ़ा जाता है, जिस मन्त्र को पढ़ते हुवे ही पिता या पुरोहित कन्या का हाथ वर के हाथ में देते हैं। यदि हमारे भाई उसका अर्थ समझने की भी चेष्टा करते तो कभी उनको यह भ्रम न होता। पर उनकी दृष्टि में तो मन्त्र केवल उच्चारण के लिए हैं, न कि अर्थ जानने या उस पर विचार करने के लिए। अस्तु, वह मन्त्र और उसका अर्थ जो महीधर ने अपने भाष्य में किया है, पाठकों की अभिज्ञता के लिए हम यहां पर उद्धृत करते हैं:—

(१) आर्षविवाह में जो एक गौ का जोड़ा वर से शुल्क में लेना कोई २ कहते हैं, वह ठीक नहीं, क्योंकि मूल्य थोड़ा हो या बहुत, विक्रय ही कहा जायगा।

कोऽदात्कस्मायादात् कामोऽदात्कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ॥

(शुक्लयजुर्वेद अ० ७ मं ४८)

महीधरभाष्यम्--" कोऽदात्कस्मै अदादिति प्रश्नद्वयस्योत्तरमाह-कामोऽदात्कामायैवादात्, न त्वं दाता नाहं प्रतिग्रहीता, त्वत्कामाभिमानी देवो मत्कामाभिमानिने देवायादात्, एवं च काम एव दाता कामएव प्रतिग्रहोता नान्यः। हे काम! एतद् द्रव्यं ते तवास्तु, दातृप्रतिगृहीतृत्वात्।"

भाषार्थः—कौन देता है? किसको देता है? इन दो प्रश्नों का उत्तर देते हैं। काम देता है और काम को ही देता है, न तू देनेवाला और न मैं लेनेवाला, तेरी आवश्यकता ने मेरी आवश्यकता को दिया। इसलिए काम ही देनेवाला और काम हो लेनेवाला है, अन्य कोई नहीं। हे काम! यह वस्तु तेरे लिए है, क्योंकि दाता और प्रतिग्रहीता तू ही है।"

पाठक! इससे अधिक कन्यादान का स्पष्ट विवरण और क्या हो सकता है? वास्तव में कन्या को न कोई देता है और न लेता है, आवश्यकता ही उसको देती और लेती भी है। मनुष्यों में तो उपचारमात्र उसके दान और आदान का सम्बन्ध है, वस्तुतः यह सब कुछ आवश्यकता कराती है। इसी लिए श्रुति के अन्त में ठीक कहा है "हे काम! एतत्ते" दीपक के तले अंधेरा इसी को कहते हैं, जिस श्रुति को पढ़ कर हमारे भाई रातदिन कन्यादान कराते हैं उसी में उसका इतना स्पष्ट विवरण होते हुवे वे कन्यादान और अन्न वस्त्र के दान में भेद नहीं समझते। यदि कर्मकाण्ड के साथ वैदिक मन्त्रों के अर्थ पढ़ाने की भी परिपाटी प्रचलित होती तो ऐसी भ्रान्तियां हमारे समाज में न फैलने पातीं।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी विचारणीय है कि ब्राह्म, दैव और आर्ष जैसे श्रेष्ठ विवाहों को छोड़कर हमारे देश के सम्भ्रान्त क्षत्रियों ने गान्धर्व विवाह का आश्रय क्यों लिया ? हमें तो इसका कारण भी यही प्रतीत होता है। जब ब्राह्म और दैव विवाहों में अन्न वस्त्र की भान्ति कन्यायें दान की जाने लगीं और आर्षविवाह में उन पर शुल्क लिया जाने लगा, तब क्षत्रियों को ये दोनों बातें आत्मसम्मान के विरुद्ध प्रतीत हुईं, तब उन्होंने विवश होकर गान्धर्व विवाह का आश्रय लिया। हमारे इस कथन की पुष्टि भगवान् कृष्ण के उस वचन से जो उन्होंने अपनी बहन सुभद्रा के विवाह विषय में अपने ज्येष्ठभ्राता बलभद्र से कहा था, होती है। वह उक्ति इस प्रकार है :—

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत्को न मन्यते ।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कःकुर्यात् पुरुषो भुवि ॥ (१)

(महाभारतआदिपर्व २२१ । ४)

पद्य के पूर्वार्द्ध का सङ्केत ब्राह्म और दैव विवाहों से है, जिनमें कन्यादान किया जाता है और उत्तरार्द्ध का संकेत आर्ष विवाह से है, जिसमें वर से शुल्क लिया जाता है। अतएव कन्यादान से पूर्वकाल के क्षत्रिय वर्ग की और आजकल के शिक्षित समाज की श्रद्धा को हटाना, उन्हीं लोगों का काम है, जिन्होंने उक्त श्रुति के आशय को न समझकर कन्यादान को भी घासफूस के दान की भांति समझ लिया। जब शास्त्र की आज्ञानुसार कन्या को न देने या बेचने का हम को अधिकार

(१) कन्यादान को पशुवत् कौन नहीं मानता और सन्तान का विक्रय इस पृथ्वी पर कौन करेगा ?

नहीं है, तब वह न तो हमारी संपत्ति ही है और न उस पर हमारा स्वामित्व ही हो सकता है। जिस वस्तु पर न तो हमारा स्वामित्व है और न वह हमारी संपत्ति है, उसके दान करने का अधिकार हमको कब है ?

तीसरा—अन्य सब दानों में दान देने के पश्चात् दाता की सत्ता उठ जाती है और उसको उस दान की हुई वस्तु से फिर कुछ सम्बन्ध नहीं रहता, जैसा कि 'दान' शब्द का निर्वचन किया जाता है—"स्वसत्तापरित्यागपूर्वकं परसत्तोत्पादनं दानम्" अपनी सत्ता उठाकर दूसरे की सत्ता स्थापित कर देना दान कहलाता है। पर कन्यादान में यह बात नहीं है दान करने के बाद माता पिता की सत्ता और संबन्ध दोनों कन्या से बने रहते हैं। यदि सत्ता न रहती तो दौहित्र न तो मातामह का दायाद होता और न उसका दिया हुआ पिण्ड उसे पहुंचता। मनु तो दौहित्र के विषय में यहां तक लिखता है :—

पौत्र दौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते ।
दौहित्रोपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवत् ॥ (१)

(मनु० ९ । १३९)

जब हिन्दू शास्त्र पौत्र के सारे अधिकार दौहित्र को देते हैं और इन दोनों में कुछ भेद नहीं करते; तब यह कहना कि विवाह के पश्चात् पुत्री पर माता की सत्ता नहीं रहती, कितना शास्त्र के प्रतिकूल है ? इसके अतिरिक्त दान की हुई वस्तु को न तो दाता अपने घर पर रख सकता है और न उससे कुछ

(१) पौत्र और दौहित्र में कुछ अन्तर नहीं है, दौहित्र भी पौत्र के ही समान परलोक में तारता है।

काम ले सकता है। पर क्या आज तक आप एक भी ऐसी कन्या बतला सकते हैं, जिसका विवाह के पश्चात् माता पिता से कुछ सम्बन्ध न रहा हो ? हम तो देखते हैं कि पुत्रियां विवाह के पश्चात् बड़े चाव से बरसों अपने मैके में रहती हैं और घर का सारा काम धन्धा करती हैं। फिर दान की हुई वस्तु को माता पिता क्यों अपने घर में रखते हैं और उससे अपना काम धन्धा कराते हैं ? इस लोकाचार से भी यही सिद्ध होता है कि कन्यादान को कोई भी हिन्दू और दानों की भान्ति नहीं समझता, फिर न मालूम क्यों हमारे धर्मध्वज भाई इसकी विशेषता को नष्ट करके इसे भी अन्य साधारण दानों की भांति बनाने की उधेड़बुन में लगे हुए हैं। एक प्रमाण सारसंग्रह का हम इस विषय में और देते हैं, यद्यपि वह मंत्र दान के विषय में है, तथापि उसमें उदाहरण कन्यादान का दिया गया है, इसलिए हम उसे यहां उद्धृत करते हैं:—

> दक्षकर्णे वदेद्विद्वान् विप्रायोदकपूर्वकम् ।
> अन्येभ्यस्तु वदेदेवमेव मन्त्रं विचक्षणः ॥ (१)
>
> (सारसंग्रह)

इसकी व्याख्या शिवार्चनचन्द्रिका नाम्नी टीका में पं० श्री निवास भट्ट इस प्रकार करते हैं:—

"अत्रोदकपूर्वकमित्यनेन हिरण्यादिवन्मंत्रस्य दानं प्रतीयते। दानं तु स्वसत्तापरित्यागपूर्वकं विधिवत्परस्वतोत्पादनरूपं भवति । तत्तु क्वापि शिष्याय मन्त्रं दत्वा पुनस्तन्मन्त्रं गुरुर्नजपति, नाराध्यति, तं पुनरन्यस्मै कस्मैचिन्न ददातीति वचनं वा संप्रदायो न दृश्यते। तस्मादुदकदानं त्वोप-

---

(१) ब्राह्मण के लिए जल पूर्वक दहने कान में मन्त्र कहे, अन्यों के लिए भी इसी प्रकार।

चारिकं तत्र परसत्तापादने कृतेऽपि स्वसत्तापरित्यागराहित्यं तु कन्यादान कल्पयितुमर्हतीत्यास्तां विस्तरः ।"

भाषानुवाद—इस पद्यमें 'उदक पूर्वक' कहने से सुवर्णादि के दानवत् मन्त्रदान की भी प्रतीति होती है । अपनी सत्ता को त्याग कर परसत्ता उत्पन्न करने का नाम दान है तो क्या गुरु शिष्य को मन्त्र देकर फिर उसे आप नहीं जपता या किसी दूसरे शिष्य को पुनः दान नहीं करता ? ऐसा वचन या संप्रदाय कोई देखने में नहीं आता जो उस दान किये हुवे मन्त्र से फिर कुछ सम्बन्ध न रक्खे । इस लिए जल पूर्वक दान औपचारिक है, परसत्ता स्थापन करने पर भी स्वसत्ता का परित्याग कन्यादानवत् नहीं होता ।

जो लोग समझते हैं कि जलपूर्वक दान करने से दाता की सत्ता दान की हुई वस्तु से उठ जाती है, उनको पं० श्रीनिवास भट्ट की इस उक्ति को स्मरण रखना चाहिए, जो दान किये हुवे मन्त्र पर गुरु की सत्ता अक्षुण्ण रखने के लिए प्रथम तो लोकाचार से उसकी पुष्टि करता है, पुनः कन्यादान का उदाहरण देकर उसकी विशेष पुष्टि करता है । अर्थात् उसके कथन का तात्पर्य यह है कि जैसे कन्यादान में भी जो जलपूर्वक किया जाता है, दाता की सत्ता अक्षुण्ण रहती है, ऐसे ही जलपूर्वक मन्त्र का दान करने से गुरु का अधिकार उसपर से नहीं जाता रहता ।

पाठक ! जब हमारे पूर्वजों ने अचेतन मन्त्र के दान को भी सुवर्णादि के दान की भान्ति नहीं माना, तब कन्यादान को वैसा समझना हमारे हृदय की कितनी संकीर्णता है ?

चौथे—यदि कन्यादान भी अन्यदानों की भान्ति होता तो वह केवल ब्राह्मणों के लिए होता, क्योंकि ब्राह्मण के सिवाय

अन्य किसी वर्ण को शास्त्र में दान लेने का अधिकार नहीं है। पर कन्यादान का प्रतिग्रह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी करते हैं। क्या शास्त्र में ब्राह्मणेतरों को दान लेने का अधिकार है? यदि नहीं है तो फिर उनके लिए कन्यादान की यह शास्त्र विरुद्ध परिपाटी क्यों चलाई गई? अतएव चारों वर्णों में समान रूप से कन्यादान का प्रचलित होना और उनका निःसंकोच होकर इसका प्रतिग्रह करना यह सिद्ध कर रहा है कि इतरदानों से इसका कुछ भी सादृश्य और साधर्म्य नहीं है। अन्यथा सिवाय ब्राह्मणों के क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को इसके प्रतिग्रह का अधिकार शास्त्र कभी न देते।

पांचवे—यद्यपि इस समय हिन्दू समाज में कन्यादान और पाणिग्रहण विवाह के ये दो अङ्ग माने जाते हैं, विवाह विधि में भी इन दोनों का विधान पाया जाता है, तथापि यह हम निःसंकोच कह सकते हैं कि हिन्दू शास्त्रों में प्रधान पाणिग्रहण संस्कार ही माना गया है। प्रमाण इसका यह है कि मनु तथा अन्य सब शास्त्रकार कन्या को यह अधिकार देते हैं कि माता पिता या अन्य संरक्षक उसका दान न करें तो वह स्वयं पाणि-ग्रहण के द्वारा अपना विवाह करले। (देखो मनु०अ० ६प० ६१) पर शास्त्रों में यह आज्ञा कहीं नहीं है कि माता पिता से दान की हुई कन्या विना पाणिग्रहण संस्कार के किसी की पत्नी बन सके। "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" (४-१-३३) इस सूत्र में पाणिनि ने 'पत्नी' शब्द का निर्वचन ही यह कियाहै "जो यज्ञ में पति का वरण करती है, वह पत्नी है।" इतिहास भी हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण रखता है कि जिनमें कन्यादान न होने पर भी केवल पाणिग्रहण संस्कार से विवाह पूर्ण समझा गया। शकुन्तला, सुभद्रा और रुक्मिणी आदि वराङ्गनाओं के

विवाह विना कन्यादान के हुवे इस बात को कौन नहीं जानता? पर क्या कोई हिन्दू यह कहने का साहस कर सकता है कि इन के विवाह अवैध या अनुचित थे? किन्तु ऐसा एक भी प्राचीन या अर्वाचीन उदाहरण हमको नहीं मिलता, जिसमें विना पाणिग्रहण संस्कार के केवल कन्यादान से विवाह की पूर्ति हुई हो।

वैदिक मंत्रों में भी जो विवाह से सम्बन्ध रखते हैं, यथाः—

"भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।"(१)

देवताओं के दान का वर्णन तो आता है, पर माता पिता या सम्बन्धी जो कन्यादान करते हैं, इसका वर्णन विवाह-विधि के किसी मंत्र में नहीं है। प्रत्युत यजुर्वेद के उस प्रसिद्ध मंत्र में जो कन्यादान के समय पढ़ा जाता है, इसका औपचारिक होना स्पष्ट ही कहा गया है। हां, वेद में साक्षात् उसका विरोध न होने से ही वह वेदानुकूल मान लिया गया है। अतएव पाणिग्रहण जिसकी :—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।(२)

इत्यादि मंत्रों में साक्षात् विधि है, विवाह का मुख्य अङ्ग है, कन्यादान गौण।

छठे—इन सब हेतुओं की उपेक्षा करके यदि कन्यादान को भी इतरदानों के समान ही मान लिया जाय और यह भी मान

---

(१) भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि देवताओं ने गृहस्थ के लिए तुझको मुझे दिया है।

(२) मैं सौभाग्य के लिए तेरा हाथ पकड़ता हूं, मुझ पति के साथ वृद्धावस्था को प्राप्त हो।

लिया जाय कि वह एक ही बार हो सकता है, पुनर्वार नहीं, इस दशा में भी शास्त्र की आज्ञानुसार वह किसी के गले का हार कभी नहीं बनाया जा सकता । पहले अध्याय में हम नारदस्मृति के उन पद्यों को उद्धृत कर चुके हैं, जिनमें १६ दशाओं में किया हुवा दान अदान समझा जाता है । तो क्या जिन्होंने मोह से, प्रमाद से, मूर्खता से वा लोभ से सात २ या आठ २ वर्ष की कन्याओं का दान वृद्धों, रोगियों, दुराचारियों वा नपुंसकों के साथ कर दिया है, क्या महात्मा नारद के वचनानुसार वह अदान नहीं है ? यदि है तो इन निरपराध बालविधवाओं को जो यह भी नहीं जानतीं कि हमें कब, किस को और किस लिए दिया गया, ऐसे अनुचित दान का शिकार बनाना महा अन्याय और घोर पाप है। अतएव ऐसी कन्याओं का फिर दान करना पुनर्दान नहीं किन्तु सकृद्दान ही है । इस दान के करने का जिनको पहले अधिकार था, उन्हीं को शास्त्रानुसार फिर भी है, जैसा कि हम वसिष्ठ, कात्यायन और नारद आदि महर्षियों के प्रमाण से पहले अध्याय में सिद्ध कर चुके हैं ।

आठ विवाहों का रगड़ा ।

छठा आक्षेप यह किया जाता है कि मनु ने जो आठ प्रकार के विवाह लिखे हैं, उनमें विधवाविवाह नहीं है । यदि विधवाविवाह भी शास्त्रकारों को सम्मत होता तो विवाहों की सूची में उसका नाम भी दिया जाता ।

समीक्षा—यदि आठों प्रकार के विवाहों में विधवाविवाह का नाम नहीं आया है, तो उसमें रण्डुवे के विवाह का भी उल्लेख नहीं है । यदि नाम न होने से विधवाविवाह उनके

बहिर्गत हैं तो इसी कारण से रण्डुवों का विवाह भी कदापि उनके अन्तर्गत नहीं हो सकता। यह नहीं हो सकता कि एक ६० वर्ष के बूढ़े का चौथा या पांचवां विवाह तो और वह भी कुमारी कन्या के साथ ब्राह्म या दैव विवाह समझा जाय, पर एक आठ या दस वर्ष की बालविधवा का विवाह और वह भी ऐसे पुरुष के साथ जो धर्मतः कुमारी कन्या का अधिकारी नहीं है, आठों विवाह के इतने लम्बे चौड़े पेट में से कि जिसमें महाजघन्य और पाशविक राक्षस और पैशाच विवाह तक समा जाते हैं, किसी में न समा सके। वास्तव में ये आठों प्रकार के विवाह भले या बुरे, वर और कन्या दोनों के लिए ही विधान किये गये हैं। यदि 'वर' शब्द से विवाहित और अविवाहित का कुछ भेद नहीं समझा जाता तो कन्या में इस भेद की कल्पना करना स्वार्थ का कितना नीच उदाहरण है! यदि किसी शास्त्र में पुरुषों के पुनर्विवाह का दूसरा नाम या विधि नहीं है, तो कन्याओं के लिए शास्त्र में दूसरा नाम या विधि ढूँढना इससे बढ़कर धार्मिक सङ्कीर्णता और क्या हो सकती है?

इसके अतिरिक्त यह कैसे आश्चर्य की बात है कि जिन पुरुषों का स्त्री के साथ संपर्क हो गया, उनके विवाह को तो हमारे भाई आठ विवाहों के अन्तर्गत मान लेते हैं, जिनको 'स्मृतितत्व' का प्रणेता पं० रघुनन्दन भट्टाचार्य नहीं मानता, जैसा कि हम दूसरे आक्षेप के समाधान में दिखला चुके हैं। पर बालविधवाओं के विवाह को जो पुरुष का संसर्ग तो एक ओर यह भी नहीं जानतीं कि पति किसको कहते हैं और विवाह क्या वस्तु है, विवाहों की सूची से पृथक् किया जाता है! इस अन्याय और अंधेर का भी कुछ ठिकाना है? देवल-

जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रिगौतमाः ।
वशिष्ठकाश्यपागस्त्या मुनयो गोत्रकारिणः ॥ (१)

कुलप्रवर्त्तक की स्मृति बनाये रखना ही गोत्रोच्चारण का तात्पर्य है। विवाह के समय जो गोत्र उच्चारण किया जाता है, उसमें इतना विशेष है कि गोत्र के साथ वर और कन्या के प्रपितामह, पितामह और पिता का नाम भी उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार उनके वंश, पितर और निजनाम सब को सुनाकर उपस्थित गण का साक्ष्य प्राप्त किया जाता है, इसलिए कि आगे कोई विवाद खड़ा न हो। जब विवाह में कन्या के पितृगोत्र का उच्चारण किया जाता है, तो पुनर्विवाह में भी वही होना चाहिए, क्योंकि पुनर्विवाह होने से कन्या का पितृकुल बदल नहीं जाता। आखिर पुरुषों के पुनर्विवाह में भी तो उनके पितृगोत्र का उच्चारण किया जाता है।

अब रही यह बात कि कन्या विवाह से पूर्व पितृगोत्र में रहती है, विवाह के पश्चात् वह पतिगोत्र में सम्मिलित हो जाती है। फिर जब पुनर्विवाह के समय उसका पितृगोत्र ही न रहा, तब उसका उच्चारण कैसा ? इसका उत्तर यह है कि विवाह होने से कन्या का गोत्र या उसके पितर नहीं बदलते, वे तो उसके जीते जी वही बने रहते हैं और वह सदा अपने पिता की पुत्री और पितामह की पौत्री कहलाती है। पतिगोत्र में जाने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि स्त्री पति की प्रसन्नता के लिए अपना कौलिक अभिमान त्याग देती है। इसका यह अर्थ समझना कि फिर उसका पितृकुल से कुछ सम्बन्ध

(१) जमदग्नि, भरद्वाज, विश्वामित्र, अत्रि, गोतम, वसिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य ये आठ ऋषि गोत्रप्रवर्त्तक हुवे हैं।

नहीं रहता या उसका वंश बदल जाता है, नितान्त असंगत और अयुक्त है। गोत्र स्वाभाविक और ईश्वरप्रदत्त है, इस लिए किसी दशा में बदल नहीं सकता। हां शास्त्र की आज्ञानुसार सपिण्डीकर्म करने से स्त्री का श्राद्ध और तर्पण पति गोत्र से किया जाता है। जैसाकि कात्यायन कहता है :—

संस्कृतायां तु भार्यायां सपिण्डीकरणान्तिकम्।
पैतृकं भजते गोत्रमूर्ध्वन्तु पतिपैतृकम्॥ (१)

(स्मृतितत्वधृत कात्यायनवचन)

कात्यायन के इस प्रमाण से सिद्ध है कि सपिण्डीकर्म तक स्त्री पति के गोत्र में नहीं जाती। सपिण्डीकर्म क्या है? भिन्न २ गोत्रों का एक गोत्र में मिलाना और यह मृत्यु के अनन्तर श्राद्ध में पिण्डदान देने के लिए किया जाता है। स्त्री के पिण्ड को पुरुष के पिण्ड से मिलाकर कल्पना करली जाती है कि स्त्री पुरुष के गोत्र में मिलगई और इसके पश्चात् फिर स्त्री को भी पति के गोत्र से ही पिण्डादक दिये जाते हैं। इस सपिण्डीकर्म का सम्बन्ध केवल श्राद्ध और तर्पण से है और इसीलिए वह जीते जी नहीं किया जाता, मृत्यु के पश्चात् ग्यारहवें दिन किया जाता है। अतएव कात्यायन के मतानुसार जीवितावस्था में स्त्री पितृगोत्र का त्याग नहीं कर सकती, यही कारण है कि वह जीतेजी दान और व्रत आदि में अपने पितृगोत्र का उच्चारण करती है। यदि विवाह में ही उसका गोत्र परिवर्त्तित हो जाता तो वह पतिगोत्र को छोड़कर क्यों पितृगोत्र का उच्चारण करती। शास्त्र की इस व्यवस्था के

---

(१) संस्कार की हुई स्त्री सपिण्डी कर्म तक पितृगोत्र में रहती है, तत्पश्चात् पतिगोत्र में जाती है।

जिसके कारण उसके गोत्र से उसका मेल हुवा था, तो अब उसके गोत्र को लेकर वह क्या करेगी ? अपना पैतृक गोत्र तो जिसमें उसने जन्म लिया था, वह त्याग सकती है, पर यह कृत्रिमगोत्र, जो पहले नहीं था, उसे भूत बनकर चिमटता है। यह विचित्र छाया है, जो पति की काया न रहने पर भी बिचारी विधवा का पीछा नहीं छोड़ती। अस्तु, जो लोग यह गोत्र का पचड़ा लगाते हैं, उन्हें जरा आंखें खोलकर ऋष्यशृङ्ग की निम्नलिखित व्यवस्था को भी देखना चाहिए :—

> क्षीणमाधस्य वैभर्त्तुर्यद्गोत्रं तेन निर्वपेत् ।
> यदि त्वक्षतयोनिःस्यात्पतिमन्यं समाश्रिता ।
> तद्गोत्रेण तदादेयं पिण्डं श्राद्धं तथोदकम् ॥ (१)

(सुधीविलोचनधृत ऋष्यशृङ्गवचन)

ऋष्यशृङ्ग के इस वचन से जहाँ गोत्र के विषय में व्यवस्था हमको मिलती है, वहां क्षतयोनि विधवा के भी पुनर्विवाह की आज्ञा मिलती है। यदि उसकी दृष्टि में क्षतयोनि विधवा का पुनर्विवाह अवैध होता तो वह पूर्वपति के गोत्र से उसके पिण्डदान का विधान न करता। इस प्रमाण से भी सिद्ध है कि पति के गोत्र की आवश्यकता स्त्री का तर्पण और श्राद्ध करने के समय ही होती है। अतएव पुनर्विवाह के समय पति-गोत्र का प्रश्न उठाना सर्वथा अनुपयुक्त और अप्रासङ्गिक है।

विचित्र मर्यादा ।

नवां आक्षेप यह किया जाता है कि पूर्वकाल में जब यहां

(१) क्षतयोनि विधवा के पहले भर्त्ता का जो गोत्र हो, उससे पिण्ड देना चाहिए, यदि अक्षतयोनि हो तो उसके पितृगोत्र से ही श्राद्धादि करने चाहियें।

स्त्रीस्वातन्त्र्य बढ़ा हुआ था, तब स्त्रियां अनेक पति कर सकती थीं। पर इस चाल को अच्छा न समझ कर ही जब से दीर्घतमा ऋषि ने यह मर्यादा स्थापित की :—

अद्यप्रभृति मर्यादा मया लोके प्रतिष्ठिता।
एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम्॥
मृते जीवति वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयान्नरम्।
अभिगम्य परं नारी पतिष्यति न संशयः॥ (१)

(महाभारत आदिपर्व अ० १०४)

तब से स्त्रियों के लिए पत्यन्तर का करना निषिद्ध और गर्हित समझा जाने लगा।

समीक्षा—जिन महात्मा दीर्घतमा के नाम से यह महा-अन्याययुक्त मर्यादा बांधी जाती है, उनका यहां पर कुछ परिचय हम पाठकों को देना चाहते हैं। प्रथम तो उनकी उत्पत्ति ही आदिपर्व के १०३ अध्याय में जिस अश्लील रीति पर वर्णन की गई है, हम उसका अनुवाद देने में असमर्थ हैं। हम यहां केवल इतना ही लिख सकते हैं कि "बृहस्पति और उतथ्य दो सहोदर भ्राता थे। उतथ्य की स्त्री से जब कि वह गर्भिणी थी, उसके निषेध करने पर भी बृहस्पति ने बलात्कार किया, जिसके कारण गर्भस्थ बालक कुबड़ा और जन्मान्ध हो गया, वे ये ही दीर्घतमाऋषि थे, जो उस पीड़िता गर्भिणी की कुक्षि से उत्पन्न हुवे। जन्मान्ध होने के कारण ही इनका नाम 'दीर्घतमा' रक्खा गया। इन्होंने अपना विवाह "प्रद्वेषी"

(१) आज से लोक में मैं यह मर्यादा स्थापित करता हूं कि स्त्री का जब तक वह जीवे एक ही पति होगा। उसके जीते जी या मरने पर वह दूसरा पति नहीं कर सकती। यदि करेगी तो पतित होगी।

नाम्नी एक स्त्री के साथ किया। वह स्त्री सुरूपा थी और यह महाकुरूप, उस पर जन्मान्ध, इसलिए उससे इनकी नहीं बनती थी, रात दिन देवासुर संग्राम मचा रहता था। एक दिन दीर्घतमा ने उससे पूछा कि 'तू मुझसे द्वेष क्यों करती है?" प्रद्वेषी ने कहा कि "स्त्री का भरण करने से 'भर्ता' और पालन करने से 'पति' कहलाता है, तू न मेरा भरण करता है, न पालन, किन्तु उलटा मुझे तेरा भरण और पोषण करना पड़ता है। अब मुझसे तेरा भरण नहीं हो सकता, इसलिए जहां तेरी इच्छा हो चला जा।" इस पर दीर्घतमा ने क्रुद्ध होकर अपनी स्त्री को डराने के लिए यह मर्यादा बांधी और उल्लिखित दो पद्य कहे।"

"परन्तु उसकी स्त्री ऐसी वैसी नहीं थी, जो उसके डराने धमकाने में आ जाती। उसने कुपित होकर अपने पुत्रों को आज्ञा दी कि तुम इस निखट्टू को बांध कर गंगा में छोड़ आओ। माता की आज्ञा से पुत्रों ने पिता को एक डोंगी में बांध कर गंगा के प्रवाह में छोड़ दिया। वह अंधा उस डोंगी में बंधा हुवा बहा चला जाता था, कई दिन बीत गये। एक दिन प्रातःकाल राजा बलि गंगा में स्नान कर रहा था उसने बहती हुई उस डोंगी को देखा। राजा की आज्ञा से सेवकों ने उसे किनारे पर लगाया। राजा ने उसमें जकड़े हुवे एक अंधे और कुबड़े मनुष्य को देखा, बन्धनों को काटकर उसको मुक्त किया और उसका वृत्तान्त सुनकर राजा उसपर दयार्द्र हुआ और राजप्रासाद में लाकर बड़े समारोह से उसका आतिथ्य किया। ऋषि के स्वस्थ और प्रसन्न होनेपर राजा ने राजमहिषी में सन्तान उत्पन्न करने के लिए उसे निमन्त्रित किया जिसको उसने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। राजा ने अपनी

पत्नी 'सुदेष्णा' को ऋषि के पास जाने को कहा । रानी उसको अंधा और कुरूप जानकर स्वयं तो उसके पास न गई, पर उसने अपनी दासी को भेज दिया । उस दासी में दीर्घतमा ने कक्षीवान् आदि ग्यारह पुत्रों को उत्पन्न किया । तब राजा ने ऋषि से कहा कि ये पुत्र मेरे क्षेत्र में पैदा होने से मेरे हैं । इसपर ऋषि ने कहा नहीं मेरे हैं, मैंने शूद्रयोनि में उत्पन्न किये हैं । तुम्हारी रानी तो मुझको अंधा और कुबड़ा जानकर मेरे पास ही नहीं आई, फिर पुत्रों पर दावा कैसे करते हो ? यह सुनकर राजाने बड़े अनुनय और विनय के पश्चात् ऋषि को पुनः प्रसन्न किया और इस बार सुदेष्णा को बहुत कुछ कह सुनकर और शाप का भय दिखाकर उसके पास भेजा । तब दीर्घतमा ने उस राजपत्नी में बड़े तेजस्वी और प्रख्यात अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड और सुह्म इन पांच पुत्रों को उत्पन्न किया, जिन्होंने उक्त नाम के पांच राष्ट्रों की नींव डाली । इस प्रकार परशुराम से नष्ट किया गया क्षत्रियवंश संसार में पुनः प्रतिष्ठित हुवा ।" (देखो महाभारत आदिपर्व अध्याय १०४)

पाठक ! यह आख्यान है, जिसके आधार पर विधवाविवाह के विपक्षी स्त्रियों के लिए पत्यन्तर का निषेध करते हैं और यह विचित्र मर्यादा है, जिस पर लाखों अवाक् बालविधवाओं की बलि चढ़ाई जा रही है । इस आख्यान से ही सिद्ध है कि दीर्घतमा के पहले स्त्रियां बे रोकटोक दूसरा पति कर सकती थीं । दीर्घतमा ने किसी सदिच्छा और सदुद्देश से इस मर्यादा की प्रतिष्ठा नहीं की, किन्तु अपनी स्त्री के अनादर से कुपित होकर उससे बदला लेने के लिए उसे इस अपूर्व मर्यादा की सूझी । किन्तु अपनी स्त्री से तो जिसने उसका अपमान किया था, उसकी कुछ पार न बसाई, किन्तु वह तिरस्कृत होकर

और बान्धा जाकर गङ्गा में बहाया गया । पर अन्य निरपराध लाखों बालविधवाओं से आज उसके अनुयायी बदला चुका रहे हैं। यदि यह मर्यादा किसी सदुद्देश से प्रेरित होकर या कम से कम व्यभिचार को रोकने के उद्देश से भी बान्धी गई होती तो सब से पहले हम इसका स्वागत करते, पर यहां तो बात ही और है। स्त्री से चिड़कर तो महातमा ऋषि यह मर्यादा बांधते हैं कि "आज से लोक में स्त्रियों का एक ही पति होगा, वे दूसरे को प्राप्त होकर भी पतित हो जायेंगी।" पर बंधन से खुलते ही और संज्ञा में आते ही एक नहीं दो स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करते हैं। नहीं २ हम भूलते हैं, उन्होंने उनका सतीत्व कहां नष्ट किया ? जो स्वयं संतान उत्पन्न करने में असमर्थ है, उसके लिए संतान उत्पन्न कर देना, क्या इससे बढ़कर और कोई परोपकार हो सकता है ? विधवा ही नहीं पतिवाली स्त्रियां भी संतान के लिए चाहे कितने ही पुरुषों से संयोग करें, इससे उनके सतीत्व की हानि नहीं होती, उनका सतीत्व भङ्ग तभी होगा, जब कि वे नियमानुसार किसी के साथ विवाह करके सन्तान उत्पन्न करेंगी। यह है दीर्घतमा ऋषि की विचित्र मर्यादा, जिसके अनुसार उसके अनुयायी विधवा-विवाह को निषिद्ध और वर्जित ठहराते हैं। हम इस पर केवल यही कहना चाहते हैं कि कृतयुग में जब कि मन्त्रों के द्वारा पुत्र उत्पन्न किये जाते थे, चाहे यह मर्यादा चल गई हो, पर अब इस कलियुग में जब कि बिना स्त्री पुरुष संयोग के संतान उत्पन्न नहीं हो सकती, कोई विक्षिप्त पुरुष भी इसके चलने की आशा नहीं कर सकता।

लोकाचार के आधार पर कियेजाने वाले आक्षेप।

शास्त्र की आड़ लेकर जो आक्षेप किये जाते हैं, उनका

समाधान हम कर चुके। कुछ आक्षेप ऐसे भी हैं, जिनका शास्त्र से कुछ सम्बंध नहीं, केवल रूढ़िवाद या लोकाचार का आश्रय लेकर किये जाते हैं, उनकी भी कुछ बानगी हम विज्ञ पाठकों को दिखलाना चाहते हैं।

लोकापवाद।

पहला आक्षेप यह है कि विधवाविवाह प्रचलित लोकाचार के विरुद्ध है। चाहे कोई काम कैसा ही अच्छा और शास्त्र के अविरुद्ध क्यों न हो यदि लोकाचार में वह वर्जित है, तो उसके करने से समाज में निन्दा होती है। "अतथ्यस्तथ्यो वा हरति महिमानं जनरवः।" लोकापवाद चाहे झूठा हो वा सच्चा, मनुष्य की कीर्त्ति में कलङ्क लगा देता है। तभी तो किसी ने कहा है, "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्।"

समीक्षा—लोकाचार प्रत्येक देश और समय में भिन्न २ होता है। संसार में कोई भी ऐसा आचार नहीं है, जो सब देशों में और सब कालों में एक ही रीति पर माना जाता हो। पहले यहां आवश्यकता पड़ने पर नियोग से संतानोत्पत्ति करना, जैसा कि कुन्ती और माद्री ने किया, एक स्त्री के पांच पति होना; जैसा कि द्रौपदी ने किया, मामाकी पुत्री से विवाह करना जैसा कि अर्जुन ने किया, ऐसे २ आचार भी समाज में प्रचलित थे। आजकल ऐसे आचारों को भारत की असभ्य जातियां भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखतीं। इसी प्रकार एक देश में जो आचार प्रचलित हैं, दूसरे देशों में कहीं वे कुतूहल और कहीं अनास्था की दृष्टि से देखे जाते हैं। इस दशा में नित्य बदलने वाले लोकाचार को समाज का आदर्श बनाना उस की उन्नति और प्रगति की जड़ काटना है।

भिन्न २ देश और काल को जाने दीजिये, एक ही देश और एक ही समय में हमें कोई ऐसा आचार बतलाइये कि जिसको सारा जन समाज एक ही दृष्टि से देखता और एक ही रीति पर मानता हो। यदि कहो कि बहुमत विधवाविवाह के विरुद्ध है तो सभ्य और सुशृंखलित समाजों में भी जब बहुमत की सत्यता सन्दिग्ध है, तो ऐसे समाज में जिसमें शृंखला और संगठन की बात तो दूर रही, सामान्य पढ़े लिखे लोग भी उंगलियों में गिनने के योग्य हैं, बहुमत को सत्य के परखने की कसौटी बनाना सत्य का अपलाप करना है। हमारे इस कथन की पुष्टि मनु करता है :—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येत् द्विजोत्तमः।
सविज्ञेयः परोधर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते॥ (१)

(मनु० १२। ११३-११४)

दस हज़ार मूर्खों के मुकाबले में मनु एक विद्वान् की सम्मति को श्रेष्ठ मानता है। अब देखना चाहिये कि विधवा-विवाह के विपक्ष में बहुमत किन लोगों का है? उन्हीं लोगों का जो न शास्त्र को जानते हैं और न जिनको अपने विवेक पर ही भरोसा है। अन्धे की लाठी के समान रूढ़ि का आश्रय लेकर चलना बस यही जिनके जीवन का लक्ष्य है। ऐसे ही

---

(१) दस हज़ार मूर्खों के मुकाबले में एक भी वेदज्ञ विद्वान् जिसकी व्यवस्था करे, वह परम धर्म है॥ ११३॥ व्रत और मंन्त्रों से रहित, जाति के नाम से जीविका करने वाले हज़ारों मिल कर भी सभा नहीं बना सकते॥ ११४॥

लोग (जिनकी संख्या हमारे देश में कम नहीं है) विधवाविवाह को हव्वा समझते हैं। यदि उनसे कोई कहे कि मनुष्य के सींग और पूंछ होते हैं, या पशु मनुष्य की बोली बोलते हैं तो वे इस पर विश्वास कर लेंगे और हाथ उठाकर कहेंगे कि "ईश्वर की सृष्टि विचित्र है, इसमें सब कुछ हो सकता है।" परन्तु यदि उनसे कोई कहे कि अमुकस्थान में विधवा का विवाह हुवा तो वे कानों पर हाथ धर कर कहेंगे कि "बस अब कलियुग आ गया, अनहोनी बातें होने लगीं।" ऐसे लोगों के बहुमत से समाज में किसी आचार की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, यदि होती भी है तो बहुत थोड़े दिन के लिए। आजकल के शिक्षित समाज का (चाहे उसकी संख्या कितनी ही कम हो) बहुमत विधवाविवाह के विरुद्ध नहीं है। इसलिए अब उसके प्रचार को अशिक्षित जनता का बहुमत रोक नहीं सकता।

आदर्शवाद।

दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि विधवाविवाह चाहे युक्ति और साम्यवाद के आधार पर निषिद्ध न हो, पर हिन्दू-समाज में पतिव्रतधर्म का जो उच्च आदर्श माना गया है, जिसके कारण हिन्दू स्त्रियों के त्याग की विधर्मियों ने भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, उसके यह विरुद्ध है। देखो एक फारसी शायर हिन्दू स्त्री के आत्मत्याग की इन शब्दों में दाद देता है :—

हमचो हिन्दू ज़न कसे दर आशिक़ी दीवाना नेस्त।
सोख्तन बर शमए मुर्दा कार हर परवाना नेस्त॥

---

(१) हिन्दू स्त्री के समान कोई प्रेम में पागल नहीं है, बुझे हुए दीपक पर जल मरना हर पतङ्ग का काम नहीं है।

समीक्षा—जो लोग केवल आदर्श पर अपनी दृष्टि रखते हैं और वस्तुस्थिति की उपेक्षा करते हैं, वे न केवल प्रकृति और समय से युद्ध की घोषणा करते हैं, किन्तु अपने आदर्श की भी मिट्टी पलीद करते हैं। क्योंकि केवल कल्पनामात्र से हम किसी आदर्श तक नहीं पहुँच सकते। उस तक पहुँचने के लिए हमें समय और वस्तुस्थिति का सख्त मुक़ाबला करना पड़ता है। क्या हम समाज की वर्तमान दशा में, जिसमें बच्चे और बूढ़े तक विलासिता के रंग में रंगे हुए हैं, बालविधवाओं से यह आशा कर सकते हैं कि वे आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन कर सकेंगी ?

इसपर कहा जाता है कि यदि पुरुष स्त्रीव्रतधर्म का पालन नहीं करते तो क्या स्त्रियां भी पतिव्रतधर्म का पालन न करें ? हमारा यह आशय कदापि नहीं है। हम तो जो स्त्रियां आजन्म कौमारावस्था में ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहती हैं उनके भी विवाह के विरुद्ध हैं, फिर भला जो विधवायें मन से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहती हैं, उनके बलात् विवाह के पक्ष में क्यों होंगे ?

हमारा कथन केवल यह है कि यह आदर्श कहने में जितना सरल है, करने में उतना ही कठिन है। जब पुरुष जो स्त्रियों की अपेक्षा बल, बुद्धि और विज्ञान सब में बढ़े हुवे हैं, इस आदर्श तक पहुँचने में अपनी अयोग्यता दिखला रहे हैं, तब अबला और मूर्खा स्त्रियों से यह आशा करना कि वे इस आदर्श की रक्षा कर सकेंगी, वस्तुस्थिति से नितान्त अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है। हम बुढ़ापे तक जिस प्रवृत्तिमार्ग का आदर्श उनके सामने रखते हैं, क्या केवल हमारे मौखिक वर्जन करने से वे उससे विमुख हो सकती हैं ? और जब हम

स्वयं उस आदर्श का पालन नहीं कर सकते तो हमें कब अधिकार है कि हम स्त्रियों से उसके पालन का अनुरोध करें? सच बात यह है कि हाथी के दांत खाने के और और दिखाने के और होते हैं। यदि हम इस आदर्श को अच्छा समझते हैं तो पहले हमें उदाहरण बनकर दिखाना चाहिये। क्या साठ साठ वर्ष के बूढ़े बाबाओं का विवाह करके और घर में चार चार स्त्रियों के होते हुए वेश्याओं के दास बन कर हम इस आदर्श की उत्तमता का परिचय दे रहे हैं? यदि कोई अङ्गरेज जो एक स्त्री के होते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता और अपने ही समान अपनी स्त्री को भी अधिकार देता है, इस आदर्श के गीत गाता तो उसके मुख से ये गीत शोभा दे सकते थे। परन्तु हम स्वयं इस आदर्श से पतित होकर दूसरों के लिए इसका विधान करते हुवे विद्वानों में अपना उपहास कराते हैं।

इसके अतिरिक्त पतिव्रत और स्त्रीव्रत इन आदर्शों का पालन पति और स्त्री की विद्यमानता में ही हो सकता है, न कि इनके अभाव में। विधवा और विपत्नीक ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं, न कि पतिव्रत और स्त्रीव्रत का। पति के अभाव में पातिव्रत्य धर्म कैसा? क्या कोई गृह के अभाव में गृहवान् कहला सकता है? यदि कहो कि इस लोक में न सही, परलोक में उसका पति मौजूद है, मर कर पतिलोक में पुनः उससे मिलने के लिए उसे इस लोक के सुखों में लात मारनी चाहिए। तो हम पूछते हैं कि परलोक की आवश्यकता केवल स्त्रियों के लिए ही है, या कि पुरुषों के लिए भी? यदि पुरुषों के लिए भी परलोक आवश्यक है, तो वहां उनकी क्या गति होगी? क्योंकि उसके लिए उन्होंने इस लोक का त्याग नहीं किया। यदि कहो

इस प्रलोभनमय संसार में इनके विवाह की व्यवस्था करके उस स्वाभाविक काम के वेग को (जिसने बड़े २ ऋषि मुनियों को भी अन्धा कर दिया) दबाना चाहते हैं। हमारे आदर्शवादी भाई बलपूर्वक इन अबलाओं के उस प्राकृतिक वेग को (जिसके सामने विश्वामित्र और पराशर जैसे ऋषियों ने भी शिर झुका दिया हो) दबाना चाहते हैं। पर ऐसा करने से वे इस वेग को तो दबा नहीं सकते। क्योंकि यह प्राकृतिक है। हां, उचित और व्यवस्थित मार्ग का अवरोध करने से वे उनके लिए अनुचित और अव्यवस्थित दम्भ और मिथ्याचार का मार्ग अवश्य खोल देते हैं और योगिराज कृष्ण के इस तत्त्वोपदेश का अनादर करते हैं :—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ (१)

पति की अवज्ञा

तीसरा आक्षेप यह है कि यदि विधवाविवाह होने लगेगा तो स्त्रियां पति को कुछ भी न समझेंगी। यदि पति अनुकूल न हुवा या कुछ अनबन हुई तो झट उसको मार कर या त्याग कर दूसरा विवाह कर लेंगी।

समीक्षा—अब भी जिन स्त्रियों को अनुकूल पति और जिन पतियों को अनुकूल स्त्रियां नहीं मिलतीं, उनमें एक घड़ी भी नहीं बनती, और बने क्योंकर, भला कहीं आग और पानी का भी मेल हो सकता है? अब क्या ऐसी स्त्रियां जिनका

और सौत्रामणि की जो व्यवस्था की गई है, उससे इनकी निवृत्ति ही इष्ट है न कि प्रवृत्ति।

(१) ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है, समस्त प्राणी प्रकृति का अनुसरण करते हैं, निग्रह (निरोध) क्या करेगा?

वाला वृद्ध या बालपति से पड़ा है, अपने पतियों की अवज्ञा नहीं करतीं ? अवज्ञा क्या उनकी मट्टी पलीद करती हैं। आश्चर्य्य की बात है कि यह अनमेल विवाह तो जो सारे अनर्थों की जड़ है आपकी दृष्टि में नहीं खटकता, पर विधवाविवाह से जो हज़ारों स्त्री पुरुषों को पापजीवन से बचानेवाला है, आप ऐसे घबराते हैं।

अच्छा, अब हम आपसे पूछते हैं कि रण्डुवों के पुनर्वि-वाह में तो आजकल कोई रोक टोक नहीं है, स्त्री को मरते देर नहीं होती कि चट दूसरा विवाह कर लेते हैं। क्या आप बतला सकते हैं कि आज तक कितने रण्डुओं ने स्त्री को मार कर या त्याग कर दूसरा विवाह किया है ? यदि विवाह की इतनी सुगमता होते हुवे भी रण्डुवे ऐसा नहीं कर सकते तो फिर स्त्रियों की ओर से जो स्वभाव से ही लज्जाशील और पर-दुःखकातर होती हैं, आपको यह शङ्का क्यों होती है ? बात यह है कि "चोर की डाढ़ी में तिनका"। इस कहावत के अनुसार आपने जो आज तक विधवाओं के साथ अमानुषिक बर्ताव किये हैं, इससे आपको भय होता है कि कहीं वे हमसे इसका बदला न चुकावें। पर आपका यह भय निर्मूल है, जब शत्रुता करते हुवे वे आपसे इसका बदला नहीं लेतीं, तब क्या मित्रता करते हुवे ऐसा करेंगी ? स्त्रियों की प्रकृति में ही ईश्वर ने प्रतिहिंसावृत्ति नहीं रक्खी, किन्तु कृतज्ञता स्थापन की है। देखो जब नृशंस अश्वत्थामा द्रौपदी के सोते हुवे पांचों पुत्रों का सिर काट कर ले गया और अर्जुन इसके बदले में उसे द्रौपदी के सामने लाकर उसका सिर काटने लगा, तब द्रौपदी ने ही यह कह कर कि, "मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः," अर्जुन के बलवान् हाथ से उसकी प्राणरक्षा की।

राग अलापा जाता है और इधर युवावस्था में उनको विवाह करने से रोका जाता है । इस परस्पर विरोध को तो देखिये !! अतएव जो लोग बालविधवाओं का विवाह नहीं करते, वे जान बूझ कर उनको स्वैरिणी बनाते हैं ।

कन्याओं के स्वत्व पर आघात ।

पांचवां आक्षेप यह किया जाता है कि विधवाविवाह का प्रचार होने से कन्याओं के स्वत्व पर आघात होगा, अब तो इनकी पूछ होती है, फिर इनको कोई न पूछेगा ।

समीक्षा—वाह रे कन्याओं के हितैषियो ! इन्हीं को सौभाग्यवती बनाने के लिए तुम पचास २ और साठ २ वर्ष की अवस्था में इनके साथ विवाह करते हो, नहीं तो ये यावज्जीवन कौमार्य का ही अवलम्बन करतीं । अहोभाग्य हैं इनके, जो आपकी ऐसी कृपादृष्टि इन पर है । किन्तु यह तो बतलाइये कि इन बिचारी कोटि कोटि विधवाओं ने आपका क्या अपराध किया है जो आप ज़बरदस्ती इनका स्वत्व छीनकर कन्याओं को (जो सर्वथा उसकी अनधिकारिणी हैं) देना चाहते हो ? क्या जैसे कुमारी कुमार पर अपना स्वत्व रखती है ऐसे ही विधवा का स्वत्व विपत्नीक पर नहीं ? ईश्वर की आज्ञा और प्रकृति का नियम तो पुकार २ कर यही कह रहे हैं कि "समं समेन योजयेत्", जैसे को तैसे के साथ संयुक्त करें । पर आप ऊंट के गले में बिल्ली को बांध कर अपनी ईश्वरपरायणता और सृष्टिनियमाभिज्ञता का परिचय संसार को दे रहे हैं । जो अनाथ विधवायें अपने सारे मानुषिक और स्वाभाविक स्वत्वों को खोये हुवे बैठी हैं, वे भला किसी का क्या स्वत्व अपहरण करेंगी ? सच पूछिये तो ये अपनी उन क्वारी बहनों को जो समाज की निर्दयता से साठ साठ वर्ष के बूढ़ों

की भेंट चढ़ाई जाती हैं, उस विषम भार से मुक्त करना चाहती हैं, जो इनका स्थानापन्न होकर उन्हें उठाना पड़ता है और उसके योग्य किसी प्रकार वे नहीं हैं ।

सम्पत्ति पर विवाद

छठा आक्षेप यह किया जाता है कि यदि विधवाविवाह होने लगेगा तो पूर्वपति की संपत्ति पर बहुत से विवाद उठेंगे।

समीक्षा—प्रचलित हिन्दू दायभाग के नियमानुसार विवाह न करने पर भी हिन्दू स्त्रियां पति की सम्पत्ति पर सिवाय अपना योगक्षेम करने के कोई स्थायी अधिकार नहीं रखतीं, न वे उसको रहन कर सकती हैं और न दान या विक्रय । जिन समाजों में, जैसे ईसाई और मुसलमान, स्त्रियों को पितृदाय और पतिदाय दोनों मिलते हैं वहां तो उनके पुनर्विवाह करने पर कोई झगड़ा न हो और यहां जहां ढाक के तीन पात हैं झगड़ों का बवंडर उठ खड़ा होगा । रहा स्त्रीधन या पिता या पति ने दान या वसीयत के द्वारा यदि उन्हें कुछ दिया है तो वह उनका अपना है, उससे उनको किसी दशा में भी कोई वञ्चित नहीं कर सकता ।

जब मृतपति से ही उनका कुछ सम्बन्ध न रहा, तब वे उसकी जायदाद को लेकर क्या करेंगी ? यदि लोभ से ऐसा कोई चाहे भी तो क़ानूनी वारिस के होने पर अदालत उसे क्यों दिलायेगी ? हां, उस अवस्था में जब कि कोई क़ानूनी वारिस न हो, वे उसको फेंक नहीं सकतीं । जब ऐसी दशा में पिता की सम्पत्ति भी उनको मिलती है, तो इसमें क्या आपत्ति है ? दोनों दशाओं में विवाद का कोई कारण नहीं दीखता । यदि इस पर भी कोई विवाद उठ खड़ा हो तो क़ानून के मुताबिक न्यायालय उसका निर्णय कर सकते हैं ।

तीसरा अध्याय।

आचार और समाज।

धर्मशास्त्र और आचार।

धर्मशास्त्र एक प्रकार का क़ानून है और आचार उसका उदाहरण (नज़ीर) है। यद्यपि क़ानून नज़ीर पर अवलम्बित नहीं हाता, उसकी नींव किसी सिद्धान्त या उद्देश पर रक्खी जाती है, तथापि नज़ीर से उसको पुष्टि अवश्य होती है। इसी प्रकार आचार भी धर्मशास्त्र का पोषक है और जिन बातों के लिए धर्मशास्त्र में न विधि है न निषेध, उनमें वह कानून का काम भी देता है।

यद्यपि जितने क़ानून या धर्मशास्त्र मनुष्यों में प्रचलित हैं वे सब उनके आचार विचारों का ही परिणाम हैं और इस में भी सन्देह नहीं कि सर्वसाधारण पर क़ानून का इतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना कि उदाहरण का। तथापि यह हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्येक देश में सभ्यता की उन्नति के साथ २ आचार का शासन कम हुवा है और क़ानून का शासन बढ़ा है। क़ानून भी वह नहीं, जिसकी नींव आज से हज़ारों वर्ष पहले प्राचीन आचार विचारों पर रक्खी गई थी, किन्तु हमारी वर्तमान परिस्थिति और आवश्यकतायें जिसको निर्माण कर रही हैं। सभ्यताभिमानिनी जातियों में जब पुराने क़ानून संशोधित और परिवर्तित हो रहे हैं, तब आज-कल किसी अग्रगामी समाज में (चाहे उसकी गति कितनी

ही मंद क्यों न हो) आचार का शासन जो एक प्रकार का जीतों पर मुर्दों का शासन है, कभी पर्याप्त नहीं हो सकता।

धर्मशास्त्र में आचार भी धर्म का एक लक्षण माना गया है और यदि उससे किसी सामाजिक या नैतिक हानि की सम्भावना नहीं है, तो वर्तमान क़ानून भी उसकी उपेक्षा नहीं करता। क़ानून में आचार की जो परिभाषा दी गई है, वह यह है :—

'कोई आचार जो दीर्घकाल से किसी जाति में प्रचलित हो और किसी निर्दिष्ट और निर्विवाद रीति पर उस समाज के लोग उसका पालन करते हों, वह उस जाति या समाज का आचार कहलाता है।' उसी को इस देश की भाषा में देशाचार या लोकाचार कहते हैं।

क़ानून किस आचार को वैध मानता है ?

वर्तमान क़ानून किसी देश या जाति के आचार को तब तक वैध या उपयोज्य नहीं मानता, जब तक उस में निम्न-लिखित चार योग्यतायें न हों :—

(१) वह आचार दीर्घकाल से उस जाति में प्रचलित हो।

(२) परिवर्त्तनशील न हो, अर्थात् बीच में उस में कोई विकार उत्पन्न न हुआ हो।

(३) युक्तियुक्त और बुद्धिग्राह्य हो।

(४) धर्मशास्त्र के विरुद्ध न हो, अर्थात् धर्मशास्त्र में उस के लिए प्रमाण मौजूद हो।

उक्त चार योग्यताओं के होने से ही कोई आचार वर्तमान क़ानून के रूप में परिणत हो सकता है, अन्यथा नहीं। अब हम को देखना यह है कि विधवाविवाह में ये चारों योग्यतायें मौजूद हैं या नहीं।

पहली कसौटी में जब हम इसको परखते हैं तो प्राचीन समय में इसका यहाँ प्रचलित होना न केवल श्रुति और स्मृतियों के प्रमाणों से (जैसा कि पहले अध्याय में हम दिखला चुके हैं) सिद्ध है, किन्तु उस निषेध से भी जो किसी किसी ग्रन्थ में इसका पाया जाता है, यह बात भली प्रकार सिद्ध हो जाती है कि पहले यहां इसका प्रचार था, अन्यथा अप्राप्ति में उसका निषेध हो ही नहीं सकता था। इसके अतिरिक्त जब पुराणों में नियोग तक के (जिसको आजकल की सभ्यता स्वीकार नहीं करती) उदाहरण पाये जाते हैं तब विधवा विवाह को नवीन आचार कहने का साहस कोई कर नहीं सकता।

दूसरी कसौटी में जब हम इसको परखते हैं तो इसमें नियोग के समान परिवर्तनशीलता भी हम नहीं पाते। नियोग की रीति परिवर्तित होते होते आज बिलकुल नाम शेष होगई, पर विधवाविवाह को रीति में आज तक कोई परिवर्तन नहीं हुवा। यह बात दूसरी है कि जाति के किसी समुदाय विशेष में इसका प्रचार कम होगया हो या नहीं रहा हो। प्रचार तो और भी बहुत से अच्छे आचारों का जैसा कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, युवाविवाह, स्त्रीशिक्षा, समुद्रयात्रा और शूद्राध्ययन आदि हैं, लुप्त हो गया था। यदि इनका पुनः प्रचार करना किसी नवीन आचार की स्थापना करना नहीं है, तो विधवाविवाह को शतजन्म में भी कोई प्राचीन आचार के विरुद्ध सिद्ध नहीं कर सकता। इसकी सत्ता और रूप में आज तक कोई विकार उत्पन्न नहीं हुवा और न हो सकता है। भला क्योंकर हो जबकि प्रत्येक सभ्यजाति में विना विवाह-सम्बन्ध के स्त्री-पुरुष समागम पाप समझा जाता है। अतएव

जब तक स्त्री पुरुषों में परस्पर साहचर्य की योग्यता है, तब तक विवाह की रीति में चाहे आंशिक भेद हो, पर उसके उद्देश और रूप में कभी कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।

तीसरी कसौटी में जब इसको परखा जाता है तो केवल मानुषिक विवेक ही बालविधवाओं को वैधव्य की भयानक दशा में रखने के प्रतिकूल नहीं, किन्तु मानुषिक हृदय भी मानव समाज के अर्द्धाङ्ग की उस दुर्दशा को, जो वैधव्य से उत्पन्न होती है, स्मरण करके कम्पित और द्रवित हो जाता है। कोई विवेकशील और हृदयवान् मनुष्य अपनी पुत्रियों और भगिनियों को वैधव्य जैसी भयानक और शंकास्पद दशा में देखना पसन्द नहीं कर सकता। विवेक तो हमको मनुष्यों के ही नहीं, किन्तु प्राणिमात्र के सुख दुःख को ही अपने ही समान अनुभव करने की प्रेरणा करता है, फिर यदि हम अपनी पुत्रियों के ही अथाह दुःख पर ध्यान न देकर और आप बूढ़े तथा शक्तिहीन होकर भी संसार के आमोद प्रमोद से मुंह न मोड़ें, क्या इसी का नाम विवेकशीलता है? विवेक तो एक ओर, यदि हमारा हृदय भी पत्थर नहीं हो गया है, तो हमको इस बात की कदापि आज्ञा नहीं देता कि हम अपनी प्यारी पुत्रियों को आजीवन वैधव्य की आगमें जलता हुवा देखें और आप संसार के रागरंग और भोगविलास से मरते दम तक मुंह न मोड़ें।

यदि प्राकृतिक दृष्टि से इस विषय को देखा जाय तो मनुष्य की साधारण बुद्धि भी यह बात बतलाती है कि प्रकृति देवी ने जिस उद्देश के लिए पुरुष को उत्पन्न किया है, उसी उद्देश की पूर्ति के लिए संसार में स्त्रियां भी उत्पन्न की गई हैं। जब पुरुष विना पत्नी के मनुष्यजन्म के उद्देश को पूरा

नहीं कर सकता तो स्त्री बिना पुरुष के अपने जन्म को कैसे सार्थक बना सकती है ? पुरुष तो बलवान् होने से बिना स्त्री के भी कथञ्चिद् अपना निर्वाह कर सकता है, पर स्त्रियां जिनको प्रकृति ने ही निर्बल बनाया है, बिना पुरुष की सहायता के अपनी कठिन जीवनयात्रा को कैसे पूरा कर सकती हैं ? इस दशा में बालविधवाओं को विवाह से रोकना केवल बुद्धि का ही दुरुपयोग नहीं है, किन्तु प्राकृतिक नियमों से युद्ध करना भी है ।

नैतिक दृष्टि से देखने पर भी मनुष्य की बुद्धि, उस अन्याय और अत्याचार की जो निरपराध बालविधवाओं पर किया जा रहा है और उन पाप और अनर्थों की जो विधवा-विवाह के न होने से समाज में प्रवृत्त हो रहे हैं, कदापि उपेक्षा नहीं कर सकती । यदि कोई क्षुधा के वेग में चोरी करता है या अभक्ष्य खाता है, तो नैतिक दृष्टि से उसका इतना दोष नहीं जितना कि उसको भूखा मारनेवालों का या उसकी भूख की उपेक्षा करनेवालों का है । अतएव जो लोग बालविधवाओं को वैधव्य का जीवन व्यतीत करने के लिए बाधित करते हैं, वे न केवल उनके साथ अन्याय करते हैं, किन्तु गुप्त व्यभिचार, गर्भपात और भ्रूणहत्या जैसे महापापों को समाज में फैलने का अवकाश भी देते हैं ।

सामाजिक दृष्टि से देखने पर मनुष्य की साधारणबुद्धि भी विधवाविवाह की उपयुक्तता को अस्वीकार नहीं कर सकती । यदि युवा और अधेड़ पुरुषों का हित भी इसमें समझा जाता है कि वे जीवन की इस विषमयात्रा में बिना स्त्री के न रहें, तब बालविधवाओं को जिनमें न बाहुबल है, न विद्याबल, अपना पहाड़ सा जीवन प्राकृतिक सखा पुरुष के बिना व्यतीत करने

के लिए बाधित करना, न केवल समाज में दुराचारों की वृद्धि करना है। किन्तु दुःखी और सन्तप्त लोगों की संख्या को भी बढ़ाना है। क्या वह समाज जिसमें लाखों कुलीन विधवायें दिन रात शंकास्पद जीवन व्यतीत करती हुईं चिन्तानल में जल रही हों, कभी शान्ति और स्वस्ति का मुंह देख सकता है ?

अब रही चौथी कसौटी धर्मशास्त्र के विरुद्ध न होना सो इस की परीक्षा हम पहले अध्याय में सप्रमाण कर चुके हैं। अतएव धर्मशास्त्र के अनुकूल होने की योग्यता भी इसमें पूरी पूरी है। इससे सिद्ध है कि उक्त चारों योग्यतायें जो किसी आचार को कानून की दृष्टि में उचित, पूर्ण, और उपयोगी ठहराती हैं, विधवाविवाह में मौजूद हैं। यही कारण है कि हमारी विचार-शीला गवर्नमेन्ट ने इन चारों कसौटियों में परखकर ही इस आचार को क़ानून के स्वरूप में परिणत किया है, जो विधवा-विवाह एक्ट् १५ सन् १८५६ के नाम से प्रसिद्ध है। हम यहां उस क़ानून की धाराओं का भावानुवाद देने से पूर्व उसका कुछ संक्षिप्त इतिहास पाठकों की सेवा में निवेदन करते है।

जब प्रातःस्मरणीय पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपने चिरकालीन अध्ययन, अनुसन्धान और आन्दोलन से यह सिद्ध कर दिया कि विधवाविवाह हिन्दूशास्त्र के विरुद्ध नहीं है, तब इसके समर्थकों के आगे एक और भारी समस्या आकर उपस्थित हुई। वह यह थी कि विधवा के पुनर्विवाह के पश्चात् उसके गर्भ से जो सन्तति उत्पन्न होगी। उसका वर्त्तमान दायभाग के अनुसार पैतृक संपत्ति पर कुछ अधि-कार न होगा। इस अड़चन को दूर करने के लिए एक आवेदन-पत्र जिसमें देश के बड़े २ प्रतिष्ठित भद्रपुरुषों के एक हज़ार

हस्ताक्षर थे, भारतीय व्यवस्थापक सभा में भेजा गया, जिसकी प्रतिलिपि यह है—

बहुसम्मानास्पद भारतीय व्यवस्थापक सभा की सेवा में नीचे हस्ताक्षर करनेवाले हिन्दुओं का विनीत निवेदन यह है:—

१—बहुत दिनों की सामाजिक निष्ठुर प्रथा के द्वारा हिन्दू-समाज में विधवाविवाह निषिद्ध समझा जाने लगा है।

२—हम आवेदनकारियों का मत और दृढ़ विश्वास यह है कि यह रीति अत्यन्त निष्ठुर और अस्वाभाविक है। समाजनीति का सामञ्जस्य बनाये रखने में यह एक प्रबल विघ्न है और समाज के लिए इसका फल विषम और विषमय हो रहा है।

३—बहुत ही बचपन में ब्याह कर देने से प्राय: ऐसी अबोध बालिकायें भी विधवा हो जाती हैं, जो बच्चों में खेलने कूदने के सिवाय और कुछ नहीं जानतीं। उनका जीवन उनके और समाज के लिए भी भार हो जाता है।

४—हम प्रार्थियों का मत और दृढ़विश्वास यह है कि यह निष्ठुर प्रथा हिन्दूशास्त्र या हिन्दूव्यवस्था के द्वारा अनुमोदित नहीं है।

५—आवेदन करनेवाले तथा अन्य बहुत से हिन्दू विधवा-विवाह को धर्मविरुद्ध नहीं समझते। यदि सामाजिक आचार व्यवहार या हिन्दूधर्म की भ्रमपूर्ण व्याख्या के कारण किसी प्रकार की आपत्ति हो तो वे बिना किसी बाधा के उसकी उपेक्षा करने के लिए तैयार हैं।

६—ईस्ट इण्डिया कम्पनी और माननीया महारानी के द्वारा संस्थापित विचारालयों में इस समय हिन्दुओं के दाय-

भाग की व्याख्या और मीमांसा हुआ करती है; उसके अनुसार ऐसा विधवाविवाह असिद्ध हो सकता है और ऐसे विवाह से उत्पन्न बच्चे अपनी पैतृक संपत्ति के अधिकारी नहीं माने जा सकते हैं।

७—जिन हिन्दुओं की धर्मबुद्धि इस प्रकारके विधवा-विवाह का पूर्णरीति पर अनुमोदन करती है और जो लोग धार्मिक और सामाजिक संसार से उत्पन्न बाधाओं की उपेक्षा करके इस प्रकार विधवाविवाह करने के लिए सम्मत हैं, उनके कार्य में आईन की उक्त व्याख्या बाधा डाल रही है।

८—प्रार्थियों का दृढ़ मत है कि शास्त्र का स्वाभिमत और भ्रान्त अर्थ करने के कारण जो सामाजिक बाधा उत्पन्न हुई है, उसे दूर करना व्यवस्थापक सभा का कर्त्तव्य है।

६—विधवाविवाह में जो यह क़ानूनी बाधा है, उसे दूर करना बहुत से निष्ठावान् और श्रद्धालु हिन्दुओं की इच्छा और भाव के द्वारा पूर्णतया अनुमोदित है। तथा जो लोग इस कार्य को शास्त्रविरुद्ध समझते हैं और इस कारण विधवाविवाह से जिनके प्राचीन संस्कारों में धक्का लग सकता है, अथवा जो लोग सामाजिक उथल पुथल न होने के लिए विधवाविवाह का प्रतिवाद करते हैं, ऐसे लोगों का इसके प्रचलित होने से कोई अनिष्ट नहीं हो सकता।

१०—पृथ्वी पर और कहीं अन्य किसी जाति में आईन के द्वारा विधवाविवाह निषिद्ध नहीं है और यह कार्य मनुष्यों की साधारण प्रकृति के विरुद्ध भी नहीं जान पड़ता।

११—इन सब कारणों की उपस्थिति में हम सब आवेदकों की यह विनीत प्रार्थना है कि माननीया व्यवस्थापक सभा

शीघ्र ही विधवाविवाह का वैध होना स्वीकार करके एक ऐसा आईन बनाकर प्रचारित करे कि जिसके द्वारा हिन्दूविधवा के विवाह में जो क़ानूनी बाधायें हैं, वे सब दूर होकर विधवा-विवाह से उत्पन्न सन्तति वैध मानी जावे ।

इस आवेदनपत्र पर एक हज़ार से ऊपर प्रतिष्ठित पुरुषों के हस्ताक्षर थे। इसके अतिरिक्त और भी कई आवेदनपत्र अलग २ भेजे गये थे, जिनमें से एक वर्द्धवान के महाराज महताबचन्द की ओर से था, दूसरा नदिया के महाराज श्रीशचन्द्र की ओर से था, तीसरा कलकत्ते के जमीन्दारों की ओर से और चौथा ढाके के ज़मीन्दारों की ओर से था। इनमें सब मिलाकर २५ हज़ार हस्ताक्षर थे। उधर विधवाविवाह के विरोधियों ने भी कई आवेदनपत्र भेजे, जिनमें ३० हज़ार हस्ताक्षर थे । आईन के मसविदे को व्यवस्थापक सभा में प्रस्तुत करते हुये उसके सुयोग्य सचिव माननीय जे० पी० ग्रान्ट साहब ने अपनी वक्तृता में कहा था, "यद्यपि विधवा-विवाह के विरोधियों की अपेक्षा समर्थकों की संख्या कम है, तथापि उनकी सम्मति का मूल्य इसलिए अधिक है कि ऐसे संस्कार के मार्ग में साहस करके अग्रसर होना कितना कठिन काम है ?" आईन की व्याख्या करते हुये उन्होंने कहाः—

"अर्थात् इस आईन के द्वारा किसी के धर्म या मत पर कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता है, किन्तु भारतीय हिन्दुओं के स्वाधीन सामाजिक जीवन में जो बाधायें पड़ती थीं, उनको दूर किया गया है। जो लोग ऐसे आईन की आवश्य-कता नहीं समझते, वे पहले की तरह अपनी इच्छानुसार काम कर सकेंगे। विवाह सम्बन्ध में शास्त्र की आज्ञा क्या है, कौन पक्ष न्याय्य है और कौन अन्याय्य, इस विषय में यह

आईन कुछ नहीं कहता। केवल उन लोगों के मार्ग में जो स्वतन्त्र सामाजिक जीवन बिताना चाहते हैं, जो बाधायें पड़ती थीं, उनको दूर करना ही इस आईन का उद्देश है।"

इस प्रस्ताव को पेश करते हुवे ग्रान्ट साहब ने यह भी कहा "यदि इस आईन के द्वारा एक भी अबोध बालिका दुरूह ब्रह्मचर्य के भार से बच सकेगी तो केवल उसी के लिए यह आईन पास करना उचित होगा। यदि मुझे यह भी विश्वास हो कि यह आईन पास होने से किसी काम न आवेगा, यों ही पड़ा रहेगा, तब भी केवल अङ्गरेज़ नाम के गौरव की रक्षा के लिए यह आईन पास होना उचित है।"

इस प्रकार २६ जुलाई सन् १८५६ ई० को भारतगवर्नमेन्ट की व्यवस्थापक सभा में बहुमत से यह आईन पास हो गया, जिसकी धाराओं का भावानुवाद नीचे दिया जाता है।

विधवाविवाह एक्ट नं० १५ सन् १८५६।

प्रयोजन—उस क़ानून के अनुसार जो ब्रिटिश भारत में उन देशों की दीवानी अदालतों में प्रचलित है, जो सरकार ईस्टइण्डिया कम्पनी बहादुर के अधिकार में हैं, हिन्दू विधवायें (कुछ को छोड़कर) एक बार विवाह हो जाने के कारण नियमपूर्वक दूसरा विवाह नहीं कर सकतीं और पुनर्विवाह से उक्त विधवाओं की जो सन्तान उत्पन्न होती हैं, वह दूषित ठहरती है और पैत्रिक दाय में भाग नहीं पाती।

हिन्दुओं की अनिच्छा के कारण ही अब तक उक्त क़ानून में कुछ सुधार न हो पाया। परन्तु अब सरकार को मालूम हुआ है कि हिन्दूसमाज का एक विशिष्ट भाग इस बात का इच्छुक है कि प्रचलित सरकारी क़ानून में ऐसा सुधार कर

दिया जाय कि भविष्य में जो हिन्दू अपने धर्म या विवेक के अनुसार (चाहे प्रचलित रीति के विरुद्ध ही क्यों न हो) विधवा का पुनर्विवाह करना चाहें, उनके लिए कानूनी कोई रुकावट न रहे। सरकार की दृष्टि में उनकी यह इच्छा न्याय-संगत है और इससे सर्वसाधारण का हित एवं उन्नति अभीष्ट है। अतएव हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह को कानून में वैध ठहराने के लिए निम्नलिखित आज्ञायें दी जाती हैं:—

हिन्दू विधवाओं का पुनर्विवाह कानून में वैध है।

धारा १—केवल इस कारण से कि किसी हिन्दू स्त्री का विवाह या मंगनी किसी दूसरे मनुष्य के साथ हो गई, जो उसके पुनर्विवाह के समय मर चुका हो, कोई विवाह हिन्दुओं में कानूनी तौर पर अवैध नहीं हो सकता और न ऐसे विवाह की सन्तान दूषित या पितृदाय के अयोग्य समझी जायगी। चाहे किसी देश का आचार या किसी शास्त्र की आज्ञा उसके विरुद्ध भी हो।

मृतपति की संपत्ति पर विधवा का कुछ अधिकार न होगा।

धारा २—वे समस्त अधिकार जो विधवा को अपने मृतपति की संपत्ति पर प्राप्त होंगे, जैसे उसकी जायदाद को अपने अधिकार में लेना या उससे अपना योगक्षेम करना या किसी वसीयतनामे या हिबानामे के अनुसार उसे सब या कुछ अधिकार दिये गये हैं, पुनर्विवाह करने पर वे उसी प्रकार समाप्त हो जायंगे, जैसे मरने पर समाप्त हो जाते हैं। मृतपति के निकटतम दायभागी अथवा कोई अन्य व्यक्ति, जिनको वह जायदाद विधवा के मरने पर मिलती, उसको प्राप्त करेंगे।

मृतपति की सन्तान का संरक्षक।

धारा ३—यदि कोई ऐसी हिन्दू विधवा जिसकी मृतपति से उत्पन्न हुई सन्तान (जिसका कोई संरक्षक नियत नहीं हुवा है) अवयस्क (नाबालिग) हो, पुनर्विवाह करना चाहे तो मृतपति के बाप या दादा, मां या दादी, या और कोई सम्बन्धी स्थानिक दीवानी न्यायालय में इस विषय का एक प्रार्थनापत्र दे सकते हैं कि कोई योग्य पुरुष उसकी सन्तान का संरक्षक नियत किया जाय। न्यायालय यदि उचित समझे तो संरक्षक नियत करदे, वह संरक्षक माता का स्थानापन्न समझा जायगा। संरक्षक नियत करने में न्यायालय उन नियमों का ध्यान रक्खेगा, जो मातृहीन तथा पितृहीन बालकों की रक्षा के सम्बन्ध में हैं, किन्तु उस दशा में जब कि मृतपति की जायदाद सन्तान के रक्षण और पालन के लिये पर्याप्त न हो, माता की आज्ञा के विना संरक्षक नियत न होगा। हां यदि संरक्षक इसकी ज़मानत दे तो हो सकता है।

निःसन्तान विधवा दाय नहीं पा सकती।

धारा ४—इस एक्ट के अनुसार कोई विधवा जो किसी संपत्तिशाली पुरुष की मृत्यु के समय निःसन्तान हो, इस योग्य न होगी कि वह उस सम्पत्ति को या उसके किसी भाग को दायभाग में प्राप्त कर सके, यदि इस एक्ट के प्रचलित होने से पहले वह निःसन्तान होने के कारण उस सम्पत्ति को दाय में पाने के अयोग्य होती।

पुनर्विवाहिता विधवा के स्वत्व की रक्षा।

धारा ५—उन दशाओं के अतिरिक्त जो धारा २-३-४ में वर्णित हुई हैं, कोई विधवा पुनर्विवाह के कारण किसी ऐसो

संपत्ति या स्वत्व से वञ्चित न होगी, जिसकी वह पुनर्विवाह न करने की दशा में अधिकारिणी होती। प्रत्येक पुनर्विवाह करनेवाली विधवा को दायभाग पाने के वही अधिकार प्राप्त होंगे, जो उस दशा में प्राप्त होते यदि वह पुनर्विवाह उसका पहला विवाह होता।

पुनर्विवाह की पर्याप्ति।

धारा ६—किसी कुमारी हिन्दू स्त्री के विवाहसंस्कार में जो शब्द कहे जाते हैं या विधान और प्रतिज्ञायें की जाती हैं, जिनसे वह विवाह नियमानुकूल और पूर्ण समझा जाता है, वे ही शब्द, विधान और प्रतिज्ञायें यदि किसी हिन्दू विधवा के पुनर्विवाह के समय प्रयुक्त होंगे तो उनका भी वही प्रभाव होगा। कोई पुनर्विवाह इस कारण से नियमविरुद्ध नहीं ठहराया जायगा कि उक्त शब्द, विधान या प्रतिज्ञायें विधवा के पुनर्विवाह से लागू नहीं हैं।

बालविधवा के सम्बन्ध में।

धारा ७—यदि पुनर्विवाह करनेवाली विधवा बाला (नाबालिग़) हो, जिसका सहवास अपने पूर्व पति के साथ न हुवा हो तो वह विना स्वीकृति अपने पिता, पिता न हो तो दादा, दादा न हो तो माता, माता न हो तो ज्येष्ठभ्राता और यदि ज्येष्ठभ्राता भी न हो तो किसी अन्य निकटतम सम्बन्धी के पुनर्विवाह नहीं कर सकती।

वे पुरुष जो जानबूझ कर ऐसे विवाह में सहायता देंगे जो इस धारा के प्रतिकूल हो, दण्डनीय होंगे। दण्ड जुर्माना या कैद जिसकी अवधि एक वर्ष होगी, दोनों हो सकते हैं और इसका परिणाम यह होगा कि ऐसे विवाह को न्यायालय अनुचित ठहरा देगा। किन्तु जो विवाह इस धारा के प्रतिकूल

हो, यदि उसके वैध होने के सम्बन्ध में कोई विवाद उठ खड़ा हो तो उसे अवैध न माना जायगा, जब तक कि उसके विरुद्ध सिद्ध न हो। पतिपत्नी के सहवास के उपरान्त कोई ऐसा विवाह अवैध नहीं ठहराया जायगा। विधवा के युवती (बालिग़) होने की दशा में या जिसका सहवास अपने पूर्व-पति के साथ हो चुका हो, विधवा की स्वीकृति उसके पुन-र्विवाह को उचित और वैध ठहराने के लिए पर्याप्त होगी।

सिद्धान्त और आचार।

अब प्रश्न यह होता है कि जब विधवाविवाह में कानून के लिए अपेक्षित चारों योग्यतायें पूर्णरूप से विद्यमान थीं, तब इसका कुलीन लोगों में अप्रचार क्यों हुवा, और क्यों अब तक धार्मिक जगत् में यह अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता? इसका कारण यह है, जब कोई जाति सिद्धान्तों की उपेक्षा करके आचार की उपासना करने लगती है या यों कहना चाहिये कि अपने विवेक और प्रत्यय पर भरोसा न करके प्रत्येक बात में दूसरों का सहारा ढूँढने लगती है, तब उसमें अन्धपरंपरा फैलती है और उसकी दृष्टि इतनी संकुचित हो जाती है कि आचार की कटीली झाड़ियों से निकल कर वह सिद्धान्त की सुरम्य वाटिका में पहुँच ही नहीं सकती। पूर्वकाल में चाहे विद्या और सभ्यता की इतनी उन्नति न हुई हो, जितनी कि अब है और आज कल के समान हमारे पूर्वजों को बौद्धिक विकास के लिए भिन्न २ सभ्यताओं का इतना विशालक्षेत्र भी न मिला हो, जितना कि हमको प्राप्त है, परन्तु यह कहने में हमको कुछ भी सङ्कोच नहीं है कि हमारे समान हमारे पूर्वज अन्धपरंपरा के अनुयायी न थे, वे सिद्धान्तवादी और सारग्राही थे। यद्यपि आचार को वे एक

धर्म का लक्षण मानते थे, तथापि उन्होंने सिद्धान्त को उनकी पूंछ कभी नहीं बनाया। प्रत्युत प्रत्येक समय में उनके नियत किये हुवे सिद्धान्तों के अनुसार ही लोक में आचार की प्रवृत्ति हुई है। उनमें नेतृत्वशक्ति थी, हम सर्वथा अनुयायी हो गये हैं, बस यही हम में और उनमें अन्तर है।

हम यह नहीं कहते कि उनमें भूल या त्रुटि नहीं थी, या उनके आचारविचार सर्वथा निर्दोष और पूर्ण थे। भ्रान्ति और अपूर्णता का होना सर्वत्र और सब कालों में मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर चाहे उनके बहुत से विचार और सिद्धान्त वर्तमान परिस्थिति में उपयुक्त न समझे जांय, और यह उन पर ही क्या निर्भर है, हमारे बहुत से आचार विचार भी सम्भव है कि हमारी सन्तान की दृष्टि में हेय हों, तो भी यह कहने में हमें संकोच नहीं है कि अपने समय के वे अच्छे व्यवस्थापक ही नहीं किन्तु प्रयोजक भी थे। उनमें समयानुसार अपने समाज के लिए क़ानून बनाने की योग्यता ही न थी, किन्तु वे उसका उपयोग करने में भी कुशल थे। हम लोगों में चाहे हम अपनी विद्या और सभ्यता का कितना ही अभिमान करें, उस नेतृत्व शक्ति का सर्वथा अभाव हो गया है। हम शास्त्री और आचार्य होकर भी यही नहीं कि समाज के लिए उपयुक्त नियम नहीं बना सकते, किन्तु हमारा अपना भी कोई सिद्धान्त या उद्देश नहीं होता। हम अपने व्यक्तिगत कर्तव्य के लिए भी दूसरों का मुंह ताकते हैं। कोई कैसा ही अच्छा आचार हो, केवल हमारा विवेक ही नहीं किन्तु शास्त्र, देश और काल भी उसकी पुष्टि करते हों, पर यदि भेड़ाचाल के वह विरुद्ध है तो उसके करने का तो एक ओर कहने का भी हमको साहस नहीं होता।

हम उसके लिए उन लोगों का मुंह ताकते हैं, जो केवल रूढ़ि-पूजा को ही अपने जीवन का उद्देश समझते हैं।

इस गतानुगति ने ही पैरों के होते हमको लूला और आंखों के होते अन्धा बना दिया है। जो आचार हमारे समाज को निर्बल और निकम्मा बना रहे हैं, जिनके कारण हम आप अपने ऊपर अन्याय और अत्याचार कर रहे हैं, उनके दुष्ट परिणामों को देखते और भोगते हुये भी हम उनके विषाक्त प्रभाव से अपने समाज की रक्षा नहीं कर सकते। ऐसी दशा में यदि हमारे समाज से विधवाविवाह का प्रचार लुप्त होकर बालविवाह और वृद्धविवाह जैसे जातिनाशक आचार प्रचलित हो गये तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

शूद्र और विधवाविवाह।

हम में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो शूद्रों में विधवाविवाह का प्रचार होने से द्विजों के लिए इसे अनुपादेय ठहराते हैं। आचारपरीक्षा की यह विचित्र कसौटी है, जिस काम को शूद्र करें, द्विजों को उसके विपरीत अवश्य करना चाहिये। जो लोग ऐसे क्षुद्र हेतुओं से विधवाविवाह को हेय सिद्ध करना चाहते हैं, उनका प्रयास इस विकास के युग में कहां तक सफल होगा? क्या शूद्र का स्पर्श होने से सोना कभी लोहा बन सकता है? यदि नहीं बन सकता तो शूद्रों की छूत विधवा-विवाह को भी नहीं लग सकती। अच्छा, हम पूछते हैं, शूद्रों में यह आचार आया कहां से? उनमें स्वयं तो किसी आचार के निर्माण करने की योग्यता होती ही नहीं, वे तो भगवान् कृष्ण के वचनानुसार :—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ (१)

अनुकरणशील होते हैं। जैसा द्विजों को करता हुआ देखते हैं, वैसा ही वे भी करने लगते हैं। अब भी जो २ आचार द्विजों में प्रचरित हैं, प्रायः उन्हीं का अनुकरण शूद्र भी करते हैं। यह बात दूसरी है कि उनके विधानों में कुछ भेद हो, यह विधानभेद परस्पर साम्य रखते हुये द्विजों में भी अनिवार्य है। इस दशा में शूद्रों को किसी आचार का निर्माता और उसके विधानों का व्यवस्थापक ठहराना ब्राह्मणों के जन्मसिद्ध अधिकार पर आक्रमण करना है। एक बात यह भी है, प्रत्येक समाज में निम्नकक्षा के लोग ही मूर्ख और अन्धविश्वासी होने के कारण प्राचीन आचारविचारों की रक्षा करते हैं, उच्च-कक्षा के लोग अपनी विद्या और बुद्धि के घमण्ड में उनकी उपेक्षा करते हैं। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अब तक जितना रूढ़िवाद निम्नकक्षा के लोगों में पाया जाता है, उसका दशमांश भी उच्च श्रेणी के लोगों में नहीं मिलता। सभ्यता नाम ही परिवर्तन का है। जिनमें जितनी अधिक परिवर्तन की योग्यता है वे उतने ही अधिक सभ्य कहलाते हैं। अतएव हमारे रूढ़िवादी भाइयों को तो इस विषय में शूद्रों का कृतज्ञ होना चाहिये कि उनके कारण अब तक हमारे समाज में बहुत से प्राचीन आचारविचार सुरक्षित हैं। अन्यथा यदि वे उन पर अपनी प्रतिनिविष्टता की मोहर न लगाते तो आज कहीं उनका चिन्ह भी दृष्टिगोचर न होता।

---

(१) श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करते हैं, इतर लोग उसी का अनुकरण करते हैं।

यह कैसे आश्चर्य की बात है कि द्विज बिना विवाह के अपने वर्ण की स्त्री को ही नहीं किन्तु अन्य वर्ण की स्त्री को भी अपनी उपपत्नी बना सकते हैं, और यह दुराचार जिसको शूद्र भी अच्छा नहीं समझते, हमारे समाज की दृष्टि में नहीं खटकता, यदि कहो कि समाज ने किसी को इसकी आज्ञा कब दी है, वे अपनी कामवासना को तृप्त करने के लिए ऐसा करते हैं और इसका दायित्व उन्हीं पर है। तो हम पूछते हैं, जो समाज ऐसे दुराचारियों को कुछ दण्ड नहीं दे सकता, यहां तक कि उनको किसी प्रायश्चित्त के योग्य भी नहीं समझता, उसमें कोई सुव्यवस्था और सुमर्यादा प्रतिष्ठित रह सकती है? इस बात में तो द्विज शूद्रों के भी कान काटते हैं, पर नियमपूर्वक किसी विधवा के साथ विवाह करने में उन्हें शूद्रों की छूत लगने का डर है।

संस्कार और आचार।

यद्यपि प्रत्येक समाज में प्रचलित रूढ़ आचारों के अनुसार ही क़ानून बनाये जाते हैं तथापि उन आचारों को क़ानून की पदवी उन्हीं समाजों में दी जाती है, जिनमें समय की गति के साथ चलने की योग्यता नहीं होती या कम होती है। असभ्य और अनुन्नत जातियों में ही आचार का अनुशासन अधिकतर देखने में आता है। जो रिवाज जिस ढंग पर उनमें पहले से चले आते हैं उनका आंखें मींचकर पालन करना ही वे अपना धर्म समझते हैं। वे उनके गुणदोषों को नहीं देखते और न इसकी क्षमता ही उनमें होती है। कैसा ही बुरा आचार हो और उसका कितना ही दूषित प्रभाव समाज पर पड़ता हो, उसमें परिवर्तन तो एक ओर कमसे कम संशोधन करना भी वे अपने पूर्वजों का अपमान समझते हैं। अन्धे की

लाठी के समान एकमात्र लोकाचार ही उनका आदर्श होता है और भूतकाल तक ही उनकी दृष्टि परिमित होती है।

इसके विपरीत सभ्य और उन्नत समाज प्रत्येक आचार की (चाहे वह प्राचीन हो वा नवीन) गुण दोष की परीक्षा करते हैं और उसका अच्छा वा बुरा जो प्रभाव समाज पर पड़ता है उसको भी अपनी सूक्ष्मदर्शिनी बुद्धि से देखते हैं। उनको भूत से अधिक वर्तमान की और वर्तमान से भी अधिक भविष्य की चिन्ता होती है। वे विकार और संस्कार, स्थिति और गति इन दोनों के मर्म को खूब समझते हैं। वे जानते हैं, कैसा ही स्वच्छ जल क्यों न हो, यदि उसकी गति को रोक कर उसे स्फटिक के हौज में भी रक्खा जायगा तो वह सड़ जायगा। इसी प्रकार कोई कैसी हो उत्तम वस्तु हो, यदि समयानुसार उसका संस्कार न किया जायगा तो उसमें दोष और विकार उत्पन्न होकर उसी को नष्ट न करेंगे, किन्तु पार्श्ववर्ती पदार्थों पर भी अपना दुष्प्रभाव डाले विना न रहेंगे। अतएव उन्नतिशील समाजों के नेता बन्द जल की भान्ति जो आचार सड़गये हैं, प्रतियत्न और संस्कार के द्वारा उनके दोषों को दूर करके उनको शुद्ध और समाज के लिए हितकर बनाते हैं। जो बिलकुल सड़गये हैं, उनमें उचित परिवर्तन और जो संस्कार के योग्य हैं, उनका आवश्यक संशोधन करके देश, काल और समाज की आवश्यकताओं के अनुसार नियम बनाते हैं और सब से पहले स्वयं उनका पालन करके दूसरों के लिए आदर्श बनते हैं।

पर भारत का तो बावा आदम ही निराला है। भारतीय समाजों के नेता राजनैतिक दौड़ में तो अपने पंगु समाज को अन्य जातियों के बराबर या उन से भी आगे बढ़ा हुआ देखना

चाहते हैं परन्तु सामाजिक सुधार के नाम से वे मुँह पर हाथ रखते हैं, और कहते हैं कि जिनका हम सुधार करना चाहते हैं, जब वे ही बितकगये, तो फिर हम सुधार किसका करेंगे ? परन्तु प्रश्न यह है कि जिस समाज को उसके भीतर के कीड़े खा रहे हों और जो चारों ओर से कुरीतियों की दलदल में फंसा हुवा हो क्या वह उस राजनैतिक दौड़ में जिसमें एक से एक बलशाली और सङ्गठित समाज अपना २ कर्तब और हुनर दिखला रहे हैं, भाग लेना तो एक ओर खड़ा भी रह सकता है ? जबतक आप हम अपनी सहायता न करेंगे, ईश्वर भी हमारी सहायता नहीं कर सकता । अपने समाज से उदासीन होकर और उसकी कुरीतियों की दलदल में फंसा हुवा छोड़ कर हमारा जातीय मोक्ष एक सुखस्वप्न से बढ़ कर नहीं है ।

अन्धअनुकरण और अन्धविश्वास ।

कहा जाता है कि भारत में अपने पूर्वजों के प्रति भक्ति विशेष है, यही कारण है कि यहां प्राचीन रीतिनीतियों का आदर विशेष किया जाता है । जब तक भारतीयों के हृदय में यह भक्ति और कृतज्ञता का भाव है, वे अपने पूर्वजों का अनुकरण करना नहीं छोड़ सकते । हम कहते हैं, पृथिवी में ऐसा कौनसा देश है, जहां के निवासियों में अपने पूर्वजों की भक्ति और स्मृति न हो ? सच तो यह है कि संसार में यदि जातीय जीवन का कोई स्रोत है तो वह यही पितृभक्ति और पूर्वजों की स्मृति है । पर हम शोक के साथ देखते हैं कि दूसरी जातियों के अन्ध अनुकरण में हम अपने पूर्वजों के आदर्शों को तो छोड़ते जाते हैं, केवल लकीर पीटने का नाम हमने भक्ति रक्खा है । अपने पूर्वजों की सच्ची भक्ति यह है कि उन्होंने हमारे

जातीयजीवन को जिस सांचे में ढाला है और मनुष्यजीवन का जो उच्च आदर्श हमारे सामने रक्खा है, इस उन्नति की दौड़ में यथेच्छ भाग लेते हुवे और दूसरी जातियों की शिक्षा और सभ्यता से सामयिक लाभ उठाते हुवे भी हम उसको अपने हृदय से न भुलावें। हमारे जातीय जीवन के विकास के लिए दूसरों का अन्ध अनुकरण जितना हानिकर है, उससे कहीं अधिक अपनों का अन्धविश्वास और अन्धभक्ति है। जहाँ अन्ध अनुकरण हमें धोबी का कुत्ता बनाता है, जो न घर का रहने दे न घाट का, वहाँ अन्धविश्वास हमको कूपमण्डूक बनाता है, जिसमें टर्र टर्र करते हुवे ही हम अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। अन्धअनुकरण से हम आत्मगौरव और अन्धविश्वास से आत्मप्रत्यय को खो बैठते हैं। अतएव जातीय जीवन की रक्षा के लिए इन दोनों का ही नियन्त्रण आवश्यक है। हमारे बहुत से भाई अन्धविश्वास की पुष्टि में मनु का यह प्रमाण देते हैं :—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्नरिष्यते ॥ (४।१७८)(१)

उनके प्रति हमारा यह निवेदन है कि मनु इस पद्य में आचारों का वर्णन नहीं करता, वह केवल वह मार्ग या आदर्श हमारे सामने रखता है, जिसके द्वारा हमें पितृपितामह का अनुकरण करना चाहिए। हम अपने पूर्वजों की चालपर चलकर भी दूसरों के सद्गुणों से लाभ उठा सकते हैं। यह अवश्य नहीं है कि हम अंगरेज़ बनकर ही उनकी अच्छी बातें सीख सकें,

(१) जिस मार्ग से हमारे पितृपितामह चले हों, उससे ही हमें सन्मार्ग में जाना चाहिये, उसमें जाते हुवे हम नष्ट न होंगे।

भारतीय बने रहकर भी हम उनसे यथासमय लाभ उठासकते हैं। बस मनु का अभिप्राय इस पद्य से केवल इतना ही है कि हम अपनी जातीय सत्ता न खोकर सन्मार्ग का अनुसरण करें इसका यह आशय कदापि नहीं हो सकता कि हम सदा मरी मक्खी मारते रहें और जिस दशा में हमारे पूर्वज थे, या इस समय हम हैं, उससे आगे बढ़ने की चेष्टा न करें। यदि मनु का यही आशय होता तो दूसरे अध्याय में वह यह न लिखताः—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् (१)॥

(मनु० अ० २ प० २३९-२४०)

इन पद्यों में मनु स्पष्ट कहता है कि विद्या, धर्म और सद्वृत्त हमको क्रमशः नीच, शूद्र और शत्रु से भी ग्रहण करने चाहियें। तब उसका पूर्व पद्य से यह आशय कदापि नहीं हो सकता कि हम अपने बड़े बूढ़ों के दुराचारों का भी यदि उन्होंने कोई किये हों आंखें मीचकर अनुसरण करें। जब हमारे पूजनीय आचार्य खुद हमें यह उपदेश करते हैं:—

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि (२)

(तैत्तिरीयोपनिषद्)

---

(१) श्रद्धायुक्त होकर श्रेष्ठ विद्या नीच से भी लेनी चाहिए। तथा शूद्र से भी धर्म, दुष्कुल से भी स्त्री, विष से भी अमृत, बालक से भी शिक्षा, शत्रु से भी सदाचार और कीचड़ से भी सुवर्ण ले लेना चाहिये।

(२) हमारे सुचरित्रों का ही सेवन करो, दुश्चरित्रों का नहीं।

तब हम आंखें बन्द करके कदापि उनका अनुसरण नहीं कर सकते ।

विवेक और आचार ।

यह भी तो देखना चाहिये कि परमात्मा ने हमको मनुष्य बनाया है और हिताहित ज्ञान के लिए बुद्धि प्रदान की है । न तो हम पशु ही हैं कि हमारी इच्छा और स्वीकृति के विना कोई जहां चाहे हमको ले जाय और जो चाहे हमारे साथ सलूक करे । न हम कोई यन्त्र ही हैं कि जिस प्रकार चाहे हमें घुमावे और जो चाहे काम लेवे । हमको ईश्वर ने दो प्रकार की मानसिक शक्तियां प्रदान की हैं, एक संवेदन और दूसरी विवेचन । इन्हीं दोनों शक्तियों के मिलाप से विवेक की उत्पत्ति होती है । संवेदन शक्ति इसलिए दी है कि हम उससे अपने ही समान दूसरों के सुख दुःख का अनुभव करें और विवेचन शक्ति का तात्पर्य यह है कि हम जिस बात को अपने लिए न चाहें, उसका प्रयोग दूसरों के लिए भी न करें । यदि मनुष्य होकर हमने इन दोनों गुणों का अनुशीलन नहीं किया तो हम चाहे धर्मशास्त्र के आचार्य हों वा नीतिशास्त्र के प्रवक्ता, हमारी मनुष्यता संसार में धोखे की टट्टी है ।

थोड़ी देर के लिए मान लो कि विधवाविवाह धर्मशास्त्र और लोकाचार दोनों के विरुद्ध है. तब भी यह प्रश्न होता है कि क्या मनुष्य की ये दोनों ईश्वरप्रदत्त शक्तियां भी इसको हेय समझती हैं ? यह कदापि हो नहीं सकता । जो संवेदन शक्ति मनुष्य को पशुपक्षियों का भी दुःख अनुभव कराती है, उसको रखता हुवा मनुष्य अपनी पुत्रियों के उस अथाह दुःख पर जो दो चार दिन, मास या वर्ष ही नहीं, किन्तु आजीवन उनको चिन्तानल में जलाता है, ध्यान न दे । तथा वह विवे-

चनशक्ति जो मनुष्य को " आत्मवत्सर्वभूतेषु " (१) का पाठ पढ़ाती है, उसको अपनी पुत्रियों और बहनों को जड़वत् देखने के लिए बाधित करे ।

यदि हमारा विवेक हमें स्त्री के वियोग में पुनर्विवाह करने के लिए प्रेरणा करता है और इसमें कोई धार्मिक या सामाजिक आपत्ति नहीं करता तो पति के न रहने पर स्त्री का भी दूसरा विवाह करना उसी विवेक के अनुसार दूषित नहीं हो सकता । जो दशा विना स्त्री के हमारी हो सकती है, वही विना पति के स्त्री की भी हो सकती है । अतएव अपने लिए तो बुढ़ापे में भी जो विरक्त होने की अवस्था है, स्त्री की आवश्यकता समझना और बालविधवाओं को युवावस्था में भी जो स्वाभाविक रीति पर क्रीड़ा और विनोद की अवस्था है, पति के अयोग्य समझना क्या यही हमारा विवेक है और इसी के बल पर हम "यस्मिन्सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।" (२) इस सिद्धान्त के अनुयायी होने का दम भरते हैं ? जिस बात को हम अपने लिए नहीं चाहते, उसका प्रयोग दूसरों के लिए करना विवेक की विडम्बना करना है ।

विवेक की प्रधानता ।

यद्यपि मनु ने धर्म के परखने की चार कसौटी बतलाई हैं श्रुति, स्मृति, सदाचार और विवेक, तथापि इन चारों में विवेक ही प्रधान है । क्योंकि विना विवेक के न तो हम शास्त्र से कुछ लाभ उठा सकते हैं और न अनाचार और मिथ्याचार की फैली हुई झाड़ियों में से सदाचार के फूल ही चुन सकते हैं । चाणक्य ने ठीक ही कहा है :—

(१) सब प्राणियों को अपने ही समान देखना ।

(२) जिसमें सब प्राणी आत्मवत् हो गये हैं ।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ (१)

विविध शास्त्र और आचार तो केवल दर्पण का काम करते हैं, देखनेवाली आंख तो हमारी बुद्धि ही है यदि आंखों से हम अंधे हैं तो एक क्या हज़ार दर्पण भी हमको कुछ नहीं दिखला सकते। आंखों के होने पर हम बिना दर्पण के भी देख सकते हैं। अतएव विवेक से बढ़ कर संसार में और कोई कसौटी भलाई या बुराई के परखने की नहीं है। संसार में सुख दुःख और पुण्य पाप की भाँति गुण दोष मिश्रित हैं। यदि आजकल बड़े से बड़े मनुष्य भूल कर सकते हैं तो प्राचीन काल में भी उसका होना सम्भव था। इस दशा में चाहे कोई शास्त्र हो वा आचार, निर्दोष नहीं हो सकता। जिस विधाता ने इस सृष्टि में गुण दोष का संमिश्रण किया है, उसी ने मनुष्य को उनकी परीक्षा करने के लिए बुद्धि की कसौटी भी प्रदान की है। यदि मनुष्य ही उसका उपयोग करने में प्रमाद करेगा तो पण्डितराज जगन्नाथ की इस अन्योक्ति के अनुसार और कौन संसार में इस कर्त्तव्य का पालन कर सकता है:—

नरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत् ।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः ॥ (२)

---

(१) जिसको अपनी बुद्धि नहीं हैं, उसको शास्त्र क्या करेगा? अन्धे को दर्पण क्या दिखावेगा?

(२) हे हंस! यदि दूध और पानी के निर्णय में तू ही आलस्य करेगा तो फिर संसार में इस कुलव्रत (तेरे कर्त्तव्य) का कौन पालन करेगा?

शास्त्र या लोकाचार हमारे लिए एक प्रदर्शनी है, जिसमें भाँति भाँति के पदार्थ अपने २ स्थान पर रक्खे हुवे हैं, उनमें कौन हमारे लिए उपयोगी हैं और कौन प्रतियोगी हैं, किस दशा में किसका ग्रहण और किसका त्याग करना चाहिए, इसका निर्णय केवल हम अपने विवेक से कर सकते हैं। यद्यपि भिन्न २ शास्त्रों तथा आचारों के अध्ययन और परिशीलन से हमारा विवेक परिपुष्ट होता है, तथापि वे विवेकवृद्धि का साधनमात्र है, मनुष्य जन्म का साध्य या उद्देश्य केवल विवेक ही है। शास्त्र या लोकमत के अभाव में हम विवेक से काम ले सकते हैं, पर विवेक के अभाव में हमारे लिए सारे शास्त्र और आचार वैसे ही हैं जैसे अंधे के लिए दर्पण। अतएव शास्त्र और आचार की विद्यमानता में भी हम विवेक की उपेक्षा नहीं कर सकते।

समय का आचार पर प्रभाव।

समय की गति के साथ आचार भी सदा बदलते रहते हैं, देश और काल के व्यवधान से उनमें बड़े २ अन्तर और परिवर्तन हो जाते हैं। वैदिक और बौद्धकाल को तो जाने दीजिए, मुसलमानों के आने से पूर्व पृथ्वीराज के समय तक जो आचार हमारे देश में प्रचलित थे आज कहीं उनका चिन्ह भी दृष्टिगोचर नहीं होता। 'संसार' शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसमें सदा कुछ न कुछ परिणाम होता रहे। इसके अतिरिक्त मनुष्य स्वाभाविक रीति पर प्रगतिशील है, वह पशुओं के समान जिस अवस्था में प्रकृति ने उसे उत्पन्न किया है, पड़ा रहना नहीं चाहता, किन्तु प्रत्येक मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से आगे बढ़ना चाहता है और इसी के लिए संसार में ये व्यक्तिगत और जातिगत युद्ध हो रहे हैं। यही कारण है कि

परिणाम का सबसे अधिक प्रभाव मनुष्य के आचार विचारों पर पड़ता है। हम निदर्शन की रीति पर कुछ आचारों को दिखलाते हैं, जो पहले क्या थे और अब क्या हैं :—

(१) पहले यहां बालविवाह का कोई नाम भी न जानता था, अब बड़ी उमर तक लड़के लड़कियों का क्वारा रहना कुल की खोट समझी जाती है।

(२) पहले लड़के और लड़कियां दोनों ब्रह्मचर्य धारण करते थे, अब लड़कियों की कौन कहै, लड़के भी उसके अयोग्य समझे जाते हैं।

(३) पहले यहां पर्दे का रिवाज बिलकुल न था। स्त्रियां बे रोक टोक पुरुषों के समाज में जातीं और काम करती थीं। अब उनका बेपर्दा रहना और पुरुषों के समाज में जाना निन्द-नीय समझा जाता है।

(४) पहले कहीं २ स्वयंवर की रीति प्रचलित थी, अब उसका कहीं नाम भी नहीं सुना जाता।

(५) पहले यहां द्विजों में १६ संस्कारों का प्रचार था, अब सिवाय नामकरण, मुण्डन और विवाह के और किसी संस्कार का नाम तक लोग नहीं जानते।

(६) पहले अश्वमेध, गोमेध और नरमेध यज्ञ होते थे, आज कल वे कलिवर्ज्य कह कर निषिद्ध किये गये हैं।

(७) पहले मधुपर्क, श्राद्ध और यज्ञ में पशुवध किया जाता था, अब यह रीति अच्छी नहीं समझी जाती। पहले मांस के न खानेवाले भी देवकर्म और पितृकर्म में उसका खाना पुण्य समझते थे, अब मांस खानेवाले भी देव और पितरों के नाम से हिंसा करना अच्छा नहीं समझते।

(८) पहले आर्ष विवाह में वर से गऊ का जोड़ा शुल्क लिया जाता था अब कन्या विक्रय की प्रथा बहुत बुरी समझी जाती है।

(९) पहले क्षत्रियों में गान्धर्व और राक्षसविवाह प्रच-लित थे, अब कहीं उनका प्रचार देखने में नहीं आता।

(१०) पहले उत्सर्ग और नियोग की प्रथायें प्रचलित थीं, अब इनको हिन्दू बहुत बुरा समझते हैं।

(११) पहले अनुलोम और कहीं २ प्रतिलोम विवाह भी होते थे, अब अधिकांश हिन्दू इनका विरोध करते हैं।

(१२) पहले ब्राह्मण याजन और अध्यापन से वृत्ति करते थे, आजकल वे वृत्ति के लिए वाणिज्य कुसीद और सेवाकर्म तक करते हैं।

(१३) पहले शूद्र केवल सेवाकर्म करते थे, आजकल वे अध्यापन और शासन तक का काम करते हैं।

(१४) पहले यहां चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म यथाविधि पालन किये जाते थे, अब वे दोनों नाम के लिए रह गये हैं, काम के लिए नहीं।

यह सूची बहुत कुछ बढ़ाई जा सकती है, पर इसकी हम कोई आवश्यकता नहीं समझते। इतने ही से पाठक अनुमान कर सकते हैं कि समाज के आचारों पर समय का कितना प्रभाव पड़ता है। आज तक समय ने कितने आचारों को मिटाया, कितनों को चलाया और कितनों की काया पलटी, इसका हिसाब कौन लगा सकता है?

देश का आचार पर प्रभाव।

समय के समान ही देश का भी आचारों पर प्रभाव पड़ता है। भिन्न २ देशों को तो जाने दीजिये, एक ही देश के एक प्रान्त

में जो आचार अच्छा समझा जाता है, वही दूसरे प्रान्त में बुरा समझा जाता है। जिस आचार को एक जाति धर्म और सभ्यता के अनुकूल समझती है, उसी को दूसरी जाति ठीक इनके प्रतिकूल समझती है। उदाहरणार्थ कुछ आचारों को हम यहां पर दिखलाते हैं:—

(१) दक्षिण प्रान्त में मामा की लड़की से विवाह करना बुरा नहीं समझा जाता, इस प्रान्त में इस आचार को बहुत बुरा समझते हैं।

(२) पंजाब में छूत छात और पर्दे का रिवाज बिलकुल नहीं, इस तरफ़ इनका बड़ा विचार किया जाता है।

(३) इस प्रान्त में सुहागिन स्त्रियों का नंगे सिर रहना अपशकुन समझा जाता है, दक्षिण में इसके विरुद्ध उनका सिर ढकना अमाङ्गलिक समझा जाता है।

(४) पूर्व के कुलीनों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित है, अन्यत्र यह अच्छी नहीं समझी जाती।

(५) किसी २ जाति या समाज में वरविक्रय या कन्या विक्रय की रीतियां प्रचलित हैं, दूसरी जातियों में ये अच्छी नहीं समझी जातीं।

(६) हिमालय की पहाड़ी जातियों में कहीं २ बहुपतित्व और कहीं २ पुत्रियों से वेश्यावृत्ति कराने की चाल है, जो अन्य जातियों में निन्दनीय समझी जाती है।

(७) दक्षिण में कहीं २ पुत्रियों को देवदासी और स्त्रियों को देवपत्नी बनाने की चाल है, जिसको अन्य प्रान्तवाले महागर्हित समझते हैं।

(८) किसी २ जाति में मांसभक्षण का प्रचार है, कोई २ जाति इससे घृणा करती है।

(९) मारवाड़ में चरसे का पानी पिया जाता है, अन्य प्रांतों में इसका रिवाज नहीं ।

(१०) बङ्गाल में हिन्दू, मुसलमान बावरची के हाथ का खाना खाते हैं, दूसरे प्रांतों में मुसलमान का छूआ पानी तक नहीं पीते ।

(११) पञ्जाब में कहारों के हाथ का बना हुआ खाना सब हिन्दू खाते हैं, पूर्व में आठ कनौजिये और नौ चूल्हे की कहावत प्रसिद्ध है ।

(१२) राजपूताने के ब्राह्मण पानी भरते और बर्तन साफ़ करते हैं, अन्य प्रान्तों के ब्राह्मण ऐसा कदापि नहीं कर सकते ।

(१३) कान्यकुब्ज ब्राह्मण बाज़ार की पूरी कचौरी नहीं खाते, पर मांस खाने में कुछ दोष नहीं समझते । गौड़ ब्राह्मण बाज़ार का सब कुछ खा लेते हैं, पर मांस को छूते तक नहीं ।

(१४) पञ्जाब में प्याज और पूर्व में लहसन खाने का रिवाज है, युक्तप्रान्त के हिन्दू इन दोनों का विचार करते हैं ।

(१५) पश्चिम में हिन्दू मुसलमान नाई से हजामत बनवाते हैं, पूर्व में इसका विचार किया जाता है ।

(१६) कहीं २ मुसलमानों के बने हुवे बताशे, गट्टे और रेवड़ियां हिन्दू खाते हैं, कहीं परहेज़ किया जाता है ।

(१७) कहीं उच्चजाति के हिन्दू मद्य और चर्म का व्यवसाय करते हैं, कोई इनको अच्छा नहीं समझते ।

(१८) पूर्व और दक्षिण में स्त्रियां खेती और दूकानदारी के सब काम करती हैं, इस प्रान्त में उनका परदे से बाहर जाना अच्छा नहीं समझा जाता ।

कहां तक गिनावें, संसार में एक भी आचार ऐसा नहीं मिलेगा, जिसका किसी देश में तो क्या किसी समाज में भ

समानरूप से उपयोग किया जाता हो और जिसके विषय में समाज की व्यक्तियों का परस्पर मतभेद न हो। यहां तक कि बहुत सी बातों में पितापुत्र और भाई २ के आचारविचारों में बड़ा अन्तर होता है। इस दशा में हम किसी भी आचार को सब दशाओं में ग्राह्य या त्याज्य नहीं ठहरा सकते। देश, काल और समाज की परिस्थिति के अनुसार सदा आचारों की परिणति होती रहती है।

शासन का आचार पर प्रभाव।

शासन का भी चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक, समाज के आचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। एक शासन में जो आचार अच्छे समझे जाते हैं, दूसरे शासन में उनकी ऐसी काया पलट जाती है कि वे पहचानने में भी नहीं आते और बहुत से तो मिट जाते हैं। ब्राह्मणों के शासनकाल में यहां विविध यज्ञों का अनुष्ठान करना ही सर्वोपरि आचार माना जाता था, उनमें बड़े लम्बे चौड़े विधान किये जाते थे, जिनसे हमारा प्राचीन साहित्य परिपूर्ण है। शूद्रों को उनमें सम्मिलित होने तथा वेदमंत्रों के सुनने तक का अधिकार न था। यदि भूल से भी कोई शूद्र वेदमंत्र सुन लेता था, तो सीसा तपाकर उसके कान में भर दिया जाता था। सामान्य अपराध में शूद्रों को जो दण्ड दिया जाता था, ब्राह्मणों को नरहत्या करने पर भी वह दण्ड नहीं मिलता था। शूद्र यदि ब्राह्मण की निन्दा करे तो उसकी जीभ काट ली जाती थी। चोरी और व्यभिचार के अपराध में उसको वधदण्ड दिया जाता था। उस समय के क़ानून का सारा जोर शूद्रों और निर्बलों पर था।

बौद्धों के शासनकाल में ये आचार और विधान बिल्कुल

बदल गये । यज्ञों के स्थान में संघ स्थापित हुवे तथा ऋत्विक् और होताओं का स्थान भिक्षु और श्रमणों ने घेर लिया। यज्ञशाला, पशुस्तम्भ और वेदिका चिन्ह, मठ, स्तूप और चैत्यों ने मिटा दिया। पशुहिंसा के स्थान में जीवदया और जाति भेद के मुक़ाबले में साम्यवाद का उपदेश होने लगा। बौद्ध राजाओं ने जो क़ानून बनाये, उनमें जातिभेद का गन्ध भी न था। अब वे ही शूद्र जो ब्राह्मणों के पास बैठने से अपने देश या ग्राम से हाथ धोते थे, ब्राह्मणों के साथ मिलकर बौद्धधर्म का उपदेश और प्रचार करने लगे।

अतः पश्चात् जब भगवान् शंकराचार्य की कृपा से वैदिक धर्मका पुनरुद्धार हुवा और विक्रम तथा भोज आदि राजाओं के हाथ में शासन की बाग आई, तब वेद के नाम से धर्म की प्रतिष्ठा तो की गई, पर उसका प्रवाह अब दूसरी ओर को बह निकला। अब जो आचार और विधान समाज में प्रतिष्ठित हुवे, वे खिचड़ी थे। यज्ञ और संस्कार ब्राह्मणों के प्रचलित हुवे, पर उनमें हिंसा बन्द की गई और उनके लम्बे चौड़े विधान भी कम किये गए। ब्राह्मण ग्रन्थों से उदासीन होकर विद्वान् उपनिषदों की शरण में आने लगे। देवमाला का स्थान मूर्तिपूजा ने तथा भग, अर्यमा, पूषा, और सविता आदि वैदिक देवताओं का स्थान पौराणिक त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने अधिकृत कर लिया। तत्पश्चात् श्री रामानुजाचार्य ने वैष्णवधर्म की स्थापना करके भक्तिमार्ग का उपदेश किया। इनके अनुयायी ज्ञान और कर्म से भक्ति को प्रधान मानने लगे। अब वह स्वर्ग जो पहले वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से और वह मुक्ति जो केवल ज्ञान से प्राप्त होती थी, भगवद्भक्ति और नामकीर्त्तन से मिलने लगी।

तदुपरान्त मुसलमानों के शासनकाल में तो इस देश की बिलकुल काया ही पलट गई। इस समय जो आचार और रीतियां हम लोगों में प्रचलित हैं, उनमें बहुत सा अंश मुसलमानी सभ्यता का भी मिश्रित है। यद्यपि सहवास के कारण मुसलमानों पर भी हमारी सभ्यता का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है, तथापि विजेता होने से उनकी सभ्यता का हम पर अधिक प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि इस समय हम बोल चाल, रहन सहन और पहनावे आदि में अधिकतर उन्हीं का अनुकरण करते हैं। उन्हीं के समय में कबीर, नानक, चैतन्य, दादू, रामानन्द, तुकाराम और रामदास प्रभृति महात्मा पुरुष हुवे जिन्होंने अपने जादू भरे उपदेशों से हिन्दूसमाज की बिलकुल काया पलट दी। जो हिन्दू शूद्रों को अस्पृश्य समझते थे, इन महात्माओं के प्रेमपूर्ण उपदेश से मुसलमानों के साथ मिल जुल कर काम करने लगे।

इसके बाद बृटिश शासन के स्थापित होने और पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार होने से भारत कुछ और ही हो गया। अब न केवल हिन्दुओं का भारत है, न मुसलमानों का और न ईसाइयों का। अब यह सबका मिश्रित भारत है, इसमें सब का समान स्वत्व है और सब इसके अङ्ग हैं। अब इस देश में बसनेवाली जितनी जातियां और सम्प्रदाय हैं, सबके लिए एक क़ानून और एक ही शासनपद्धति है। प्राचीन आचार और रीतियां बहुत सी मिट गईं। जो हैं उन्होंने नई सभ्यताओं से मिल कर बिलकुल नया रूप धारण कर लिया है। नवीनता बड़े वेग से प्राचीनता को दबा रही है या अपने अनुकूल बना रही है और क्यों न बनावे, जब कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही नवीनता की ओर है। यह पुरानी बातों

को भी जब तक किसी नये सांचे में न ढाला जाय, पसन्द नहीं करता। सौन्दर्य जिसके मनुष्यमात्र उपासक हैं, इसी नवीनता का नामान्तर या रूपान्तर है।

"क्षणेक्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः"। (१)

पाश्चात्य सभ्यता का आचार पर प्रभाव।

एशिया के जिन देशों में बृटिश शासन नहीं है, वहां भी पाश्चात्य सभ्यता अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखला रही है। हमारा भारतवर्ष तो आज डेढ़ सौ वर्ष से बृटिश शासन के अधीन है, फिर यदि यहां प्रतीच्य सभ्यता हमारे आचार विचारों को नये सांचे में ढाल रही है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? हमारी शिक्षा, दीक्षा, विचार, भाषा, संस्थायें, यहां तक कि आध्यात्मिक विचार भी इसी के रंग में रंगे हुवे हैं। पाश्चात्य विज्ञान की जब तक मोहर नहीं लगती, हमारे धार्मिक सिद्धान्त भी प्रमाण कोटि में आरूढ़ नहीं होते। इस पाश्चात्य सभ्यता के कारण हमारे आचार विचारों में जो परिवर्तन हुवे हैं और हो रहे हैं, उनको हम संक्षेप से दिखलाते हैं:—

खानपान।

खानपान को ही लीजिये। पहले हिन्दू बिसकुट, पावरोटी, विलायती मिठाई, जमा हुवा दूध, सोडावाटर और बर्फ आदि का परहेज़ करते थे, अब बड़े २ बाजपेयी और चतुर्वेदी विना रोक टोक इनका उपयोग करते हैं। जावा और मारीशस की चीनी, लिबरपोल का नमक अब हिन्दू धर्म को हानि नहीं पहुँचाता। बहुत से उच्चकुल के हिन्दू होटलों में खाते पीते हैं,

(१) प्रतिक्षण जो नया रूप धारण करती है, वही सुन्दरता है।

इससे भी उनका धर्म नहीं जाता। मुसलमान का छूवा पानी और मिठाई हिन्दू नहीं खाते, पर उसके बनाये अर्क़, शरबत, चटनी, माजून, गुड़, बताशे, कन्द और शकर में कुछ दोष नहीं समझते। पाइप का पानी जिसको डोम चमार तक साफ़ करते हैं और सब एक साथ भरते हैं, अब हिन्दुओं के लिए त्याज्य नहीं है। जिस रेलगाड़ी को भंगी धोता है, भिश्ती पानी देता है और जिसमें चूढ़े चमार तक यात्रा करते हैं, उसमें चला हुवा भोजन ही नहीं किन्तु उसकी बेंचों में बैठ कर आनन्द से हिन्दू भोजन करते हैं।

अब अङ्गरेज़ी दवाओं को लीजिये। जो दवायें विलायत में न मालूम किन २ चीज़ों से और किस तरीके पर बनाई जाती हैं और जिनकी तयारी में प्रायः स्पिरिट (मद्य) का उपयोग होता है, सब लोग विना झिझक के उनका उपयोग करते हैं। कोई २ तो विना रोग के सिर्फ़ जायके या हाज़मे के लिये अङ्गरेज़ी दवाओं का सेवन करते हैं।

पहनावा ।

पहनावे की ओर देखते हैं तो सिवाय धोती, पगड़ी और डुपट्टे के और कुछ भी हिन्दुओं का अपना लिबास नहीं है, सो ये भी कहीं २ दक्षिण और पूर्व में देखने में आते हैं। अंगरखा, चपकन, जामा पायजामा, कुरता, सदरी, मिरज़ई, सलूका, चोग़ा, साफ़ा और कमरबन्द ये सब मुसलमानी लिबास हमने स्वीकार किये हैं। अब कोट, पतलून, क़मीज़, जाकट, नेकटाई, कालर और हैट आदि अङ्गरेज़ी लिबास पर आसक्त होकर हम इनको भी छोड़ते चले जा रहे हैं। देसी जूते की जगह बूट और खड़ाऊं की जगह स्लीपर का रिवाज बढ़ता जा रहा है। स्त्रियों की पोशाक में भी बड़ा परिवर्तन हो रहा है,

चोली और लहंगे का रिवाज अब शहरों से तो बिलकुल उठता जाता है, चोली की जगह जाकेट और कमीज ने और लहंगे की जगह साये ने घेर ली है। देसी चूड़ी, देसी फ़ीता और देसी बेल अब स्त्रियों के मन नहीं भाती, यहां तक कि देसी आभूषण भी अब स्त्रियों को अखरने लगे हैं। अपने बच्चों को तो सिर से पैर तक विदेशी लिबास में देख कर माता पिता फूले नहीं समाते।

सजावट।

सजावट और मनोविनोद की वस्तुओं पर जब दृष्टि डालते हैं तो सिवाय पृथिवी माता के सब सामान हमको विदेशी ही नज़र आता है। किसी रईस की बैठक को जाकर देखिए। फ़र्श, मेज़, आलमारी, कुरसी, बाक्स, डेक्स, दर्पण, चित्र, लैम्प, चिमनी, पंखे, दावात, क़लम, स्याही, निब, चाकू, कागज़ और पर्दे आदि सब सामान इस सिरे से उस सिरे तक विलायती ही नज़र आवेगा। मकान क्या है, मानो किसी सौदागर की सजी हुई दूकान है। अतिथि को अब आसन और पटले की जगह स्टूल या कुरसी दी जाती है। पाठशालाओं और सभाओं में अब फर्श की जगह कुरसियां और बेंचें लगाई जाती हैं। व्यास जी भी अब अपना उपदेश चौकी पर बैठ कर नहीं करते, किन्तु मेज़ के सहारे खड़े होकर करते हैं। विलायती साबुन से जिसमें चरबी मिली हुई होती है, पुरुष ही नहीं स्त्रियां भी हाथ मुँह धोती और स्नान करती हैं। केसर और चन्दन के स्थान में अब इत्र और लवेंडर का प्रयोग किया जाता है। चुरुट, बीड़ी और सिग्रेट का इतना प्रचार हुवा है कि छोटे २ बच्चे और मज़दूर तक मुँह में फलीता

दिये फिरते हैं। चरवी की वत्तियां मन्दिरों तक में जलाई जाती हैं। चमड़े के बटुवे स्त्रियां तक अपने पास रखती हैं। हड्डी के दस्ते वाली छुरियों से तरकारी और फल तराशे जाते हैं। सींग की कंघियों से स्त्रियां अपने केश संवारती हैं। चीनी के बरतन और काच के गिलास अब घर घर खाने पीने के काम आने लगे हैं।

सवारियां ।

पुरानी सवारियां रथ, मझोली, बहली, तांगे, छकड़े, पालकी, तामझाम आदि अब सिवाय देहात के और कहीं देखने में नहीं आतीं। शहरों में जिधर देखो फिटन, टमटम, पालगाड़ी, मेलकार्ड, विक्टोरिया और लैंडो आदि विलायती ढंग की गाड़ियों की खड़खड़ाहट सुनाई पड़ती है। इनके सिवाय बाईसिकल, ट्राइसिकल, मोटर, रेलवे और ट्रामवे आदि का प्रचार और विस्तार बहुत कुछ बढ़ता जाता है। उधर जलयानों में भी बड़ा परिवर्तन हुवा है। सैकड़ों प्रकार के यान जो भाफ के वेग से चलते हैं, बनते चलते जाते हैं, जिनसे यात्रा का बहुत कुछ सुभीता हो गया है।

क्रीड़ा और व्यायाम ।

पुराने अखाड़े और कुश्ती का चर्चा अब सिवाय पेशेवरों के और कहीं सुनने में नहीं आता। डंडपेलना, बैठक करना, मुद्गर हिलाना और पटेबाजी अब असभ्यता के चिन्ह समझे जाते हैं। खेलकूद में जहां देखो क्रीकेट, फुटबाल, और हाकी की धूम है। व्यायाम में डम्बल और जमनाष्टिक की चर्चा है। कुश्ती की जगह क़वायद और व्यायामशाला की जगह क्रीकेट फील्ड या हाकी के मैदान नज़र आते हैं।

गानविद्या।

गानविद्या भी अब अपना पहला स्वरूप छोड़ कर नया रूप धारण करती जाती है। सारंगी, पखावज और सितार की अब गाने में इतनी आवश्यकता नहीं समझी जाती, जितनी हारमोनियम, पियानो और फ्लूट की। पहले ध्रुपद और तराने का स्थान ग़ज़ल और कव्वाली ने लिया था, अब थियेट्रिकल चुलबुली रागनियों के सामने इनको भी कोई नहीं पूछता। अङ्गरेज़ी बैंडने देसी बाजों की रेड़ लगा दी है।

वास्तुविद्या।

नगरों में अब जो नये मकानात बनते हैं, पुराने ढंग पर अब उन्हें कोई नहीं बनवाता। अब तंग दालान और बन्द कोठों की जगह हवादार कमरे और खुले बारंडे बनाये जाते हैं। छतें ऊँची, दरवाज़े लम्बे, हवा और रोशनी के लिए खिड़कियाँ और रौशनदान रक्खे जाते हैं। पुराने ढंग की इमारतें चाहे मज़बूत बनाई जाती हों, पर उनमें आराम और स्वास्थ्य का ध्यान कम रक्खा जाता था।

समुद्रयात्रा।

पहले हिन्दू समुद्रयात्रा को धर्मविरुद्ध समझते थे, अब धड़ाधड़ हिन्दू शिक्षा, व्यापार और सेवा के लिए जहाजों में बैठ कर विदेशों को जाते हैं। मारवाड़ियों की दूकानें चीन, अदन, सिंगापुर, ब्रह्मा और हांगकांग में खुली हुई हैं। अभी कुछ दिन हुवे महाराज जयपुर ब्राह्मणों को साथ लेकर विलायत की यात्रा कर आये थे और सनातनधर्म के भूषण लोकमान्य तिलक भी मृत्यु से कुछ पूर्व लन्दन की यात्रा कर आये थे।

डाक्टरी ।

अब से पचास वर्ष पहले डाक्टरी स्कूलों में उच्चजाति के हिन्दू अपने लड़कों को भरती नहीं करते थे। गवर्नमेंट के पुरस्कार और छात्रवृत्तियों का भी उन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता था, अब वह सारी रोक जाती रही और यह व्यवसाय हिन्दुओं में उच्च कोटि का समझा जाता है।

स्त्रीशिक्षा ।

पहले स्त्रियों को पढ़ाना लिखाना अच्छा नहीं समझा जाता था, लोग समझते थे कि स्त्रियां पढ़ लिख कर गृहस्थ के काम की न रहेंगी। अब कट्टर से कट्टर हिन्दू भी स्त्रीशिक्षा का विरोध नहीं करते और यह समझने लगे हैं कि विना पढ़े लिखे स्त्री अच्छी गृहिणी नहीं बन सकती। पचास वर्ष पहले यहां सिवाय मिश्नरियों के देशवाशियों की ओर से कोई पुत्री-पाठशाला न थी, अब नगरों की कौन कहे, कस्बों और ग्रामों में भी पुत्रीपाठशालायें स्थापित होती जाती हैं। नगरों में तो पुत्रियां पुत्रों के समान विश्वविद्यालय की डिगरियां प्राप्त करती हैं।

कहां तक गिनावें, हमारा कोई भी आचार ऐसा नहीं है, जिसमें कुछ न कुछ परिवर्त्तन न हुवा हो और क्यों न हो जब कि हमारे विचार ही परिवर्तनशील हैं, तब उनके परिणाम आचार स्थिर कैसे हो सकते हैं? इस दशा में किसी प्राचीन आचार को समाज का आदर्श बना कर हम उसकी अग्रगति को तो रोक सकते हैं और उसको संसार से मिटा भी सकते हैं, पर अपनी सारी शक्ति लगा कर भी हम उसको पश्चात् गामी नहीं बना सकते। जैसे किसी युवा पुरुष को बन्धन में

डाल कर हम उसे निर्बल तो बना सकते हैं, यहां तक कि उसके जीवन को भी समाप्त कर सकते हैं पर उसे पुनः शैशवावस्था में पहुँचाना सर्वथा हमारी शक्ति के बाहर है।

आचार और बृटिश सरकार।

बहुत से आचार जो धर्म के नाम से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक हमारे देश में प्रचलित थे और जिनके कारण समाज में मनुष्य जाति पर बड़े २ अन्याय और अत्याचार होते थे, उनको बृटिश सरकार ने शान्ति स्थापन होने के बाद क्रमशः क़ानून के ज़ोर से बन्द किया है। यदि वे बन्द न किये जाते तो आज हमारी यह सभ्यता, जिसका हम अभिमान करते हैं, न मालूम किस कोने में छिपी हुई होती और हमारी दुर्दशा पर फूट २ कर आंसू बहाती होती। उनमें से कुछ आचारों का परिचय हम यहां पर पाठकों को देना चाहते हैं :—

१—चरकपूजा।

यह प्रथा बंगाल में प्रचलित थी, काली के उपासक देवी को प्रसन्न करने के लिए इसका अनुष्ठान करते थे। एक सीधी बल्ली २५ या ३० फीट लम्बी भूमि में गाड़ी जाती थी, उसके निचले सिरे पर एक तिरछा डंडा लगा दिया जाता था, जो चर्खी के समान घूमता था। डंडे के एक सिरे से एक रस्सी लटका कर उसमें लोहे के दो हुक लगाये जाते थे। दूसरी तरफ़ एक और रस्सी बांधी जाती थी, जो धरातल तक लटकी रहती थी। दीक्षित उपासक बल्ली के सामने आकर पहले देवी को दण्डवत् करता था, तत्पश्चात् ये दोनों हुक उसके कंधे के पास पीठ की ओर मांस में घुसा दिये जाते थे। दूसरा मनुष्य रस्सी पकड़ कर ज़ोर से घुमाता था। जो उपासक इस

कष्ट को जितना अधिक सहन करता था, उतना ही वह भाग्यवान् समझा जाता था और जो इस कष्ट से प्राण त्याग देते थे, वे सायुज्य मुक्ति के भागी समझे जाते थे। सरकार ने सन १८६३ ई० में क़ानून के द्वारा इस निष्ठुर प्रथा को बन्द किया।

२—हरिबोल।

यह प्रथा भी बङ्गाल में प्रचलित थी। जो रोगी असाध्य हो जाता था या मरणासन्न होता था, उसको गङ्गा में लेजाकर स्नान कराते थे और पानी में गोता देकर उससे कहते थे कि "हरिबोल, बोल हरि।" यदि वह शीघ्र प्राणत्याग देता था तो भाग्यवान् समझा जाता था। यदि कठिन प्राण होने से किसी की जीवनलीला शीघ्र समाप्त न होती थी तो उसे पुनः घर वापिस नहीं लाया जाता था, वहीं बड़े दुःख से तड़प तड़प कर वह प्राणविसर्जन करता था। इस जघन्य प्रथा को भी सरकार ने सन् १८३१ ई० में क़ानून बना कर बन्द किया।

३—सतीदाह।

यह प्रथा सारे भारतवर्ष में प्रचलित थी। विधवा स्त्री को उसके पति की लाश के साथ चिता में जलाया जाता था। कष्ट की वेदना से वह कहीं चिता में से कूद न पड़े, इसलिए जब तक चिता में आग खूब प्रज्वलित न हो जाती थी, उसको बांसों और बल्लियों से रोका जाता था। इस अमानुषिक प्रथा को भी सरकार ने सन् १८२९ ई० में क़ानून बनाकर बन्द किया।

४—पुत्रीवध।

राजपूताना और उड़ीसा में इस दुष्ट प्रथा का अधिक प्रचार था। कुलाभिमानी क्षत्रिय इस भय से कि कहीं हमें

किसी का ससुरा और साला बनना पड़ेगा, पैदा होते ही पुत्रियों का गला घोंट देते थे। इस जघन्य प्रथा को सरकार ने सन् १८७० ई० में एक्ट ८ पुत्रीवधप्रतिरोध पास करके बन्द किया।

५–नरमेध ।

उत्तर भारत और दक्षिण में यह प्रथा भी कहीं २ प्रचलित थी। किसी अनाथ या निर्धन मनुष्य को दीक्षित करके यज्ञ में उसकी बलि चढ़ाई जाती थी। ऋग्वेदीय शुनःशेफ सूक्त को इसका आधार माना जाता था। इस निष्ठुर प्रथा को बृटिश सरकार ने सन् १८४५ ई० में एक्ट २१ पास करके दूर किया।

६–गंगाप्रवाह ।

माता पिता सन्तानोत्पत्ति के लिए अपने इष्टदेव से प्रार्थना पूर्वक यह प्रतिज्ञा करते थे कि यदि हमारे सन्तान उत्पन्न हुई तो पहले बच्चे को हम देवता की भेंट चढ़ायेंगे। इस निष्ठुर प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए वे अपनी पहली सन्तान को (चाहे पुत्र हो या पुत्री) गंगासागर में छोड़ देते थे। इस दुष्ट प्रथा को हमारी सरकार ने सन् १८३५ ई० में क़ानून के द्वारा बन्द किया।

७–काशीकरवट ।

बनारस में आदि विश्वेश्वर के मन्दिर के पास एक कूप है, जिसका दर्शन केवल सोमवार को होता था। लोगों का विश्वास था कि शिवजी इसमें वास करते हैं। इसी विश्वास के कारण भक्त लोग उसमें कूद कर सदा के लिए करवट लेते थे। इस प्रथा को भी सरकार ने क़ानून के द्वारा बन्द किया।

८—भृगूत्पन्न ।

गिरनार और सतपुड़ा पहाड़ की घाटियों में प्रायः नवयुवक पहाड़ की चोटी से नीचे गिर कर अपने प्राण देते थे। कारण इसका यह होता था कि उनकी मातायें महादेव जी से (जो संसार के संहार करनेवाले हैं) यह अभ्यर्थना करती थीं कि यदि हमारे सन्तान उत्पन्न होगी तो हम पहली सन्तान से भृगूत्पन्न की रीति पूरी करायेंगी। बड़े होने पर मातायें अपने पुत्रों से इस कथा का वर्णन करती थीं। नवयुवक मातृऋण का शोध करने के लिए धार्मिक विश्वास के कारण पहाड़ से कूद कर अपनी जान देते थे। इस प्रथा का नाम भृगूत्पन्न था। इसको भी सरकारी क़ानून ने सदा के लिए बन्द किया।

९—धरना ।

याचक लोग विष या शस्त्र हाथ में लेकर गृहस्थों के द्वार पर धरना धरते थे और कहते थे कि या तो उनकी कामना पूरी की जाय, अन्यथा वे यहीं प्राण त्यागेंगे। लोग डरके मारे उनकी अनुचित इच्छाओं को भी पूरी कर देते थे। इस प्रथा को सरकार ने सन् १८२० ई० में क़ानून बना कर बन्द किया।

१०—महाप्रस्थान ।

जल में डूब कर या अग्नि में जलकर मरने का नाम महाप्रस्थान था। धार्मिक विश्वास के कारण लोग इस प्रकार मरने से मुक्ति का होना मानते थे। राजा शूद्रक ने भी महाप्रस्थान किया था, जिसका वर्णन मृच्छकटिक नाटक में है। इस प्रथा को भी सरकारी क़ानून ने ही देश से मिटाया।

११—तुषानल।

कोई २ अपने को किसी अपराध के होने पर भुस या तृण की आग में जलाकर भस्म कर देते थे और इस प्रकार अपने पाप का प्रायश्चित्त करते थे। कुमारिल भट्ट ने बौद्धों से विद्या ग्रहण करने का प्रायश्चित्त इसी तुषानल में जल कर किया था। इसको भी सरकारी क़ानून ने ही नामशेष किया।

१२—रथयात्रा।

जब जगन्नाथ जी की रथ पर सवारी निकलती थी, तब उस रथ के नीचे पिसकर मरना मोक्षदायक समझा जाता था। हर तीसरे वर्ष यह यात्रा होती थी और बहुत से मनुष्य इस की भेंट चढ़ते थे। सरकारी क़ानून ने इस प्रथा को भी सदा के लिए नामशेष किया।

इसी प्रकार की और बहुतसी प्रथायें जो धर्म के नाम से पिछली शताब्दी के मध्य तक इस देश में प्रचलित थीं, बृटिश क़ानून के द्वारा रोकी गई हैं। यद्यपि बृटिश क़ानून और शिक्षा के द्वारा बहुत कुछ सुधार हमारे देश में हुवे और होंगे, जिन-के लिए हमें इस सरकार का शुद्ध हृदय से कृतज्ञ होना चाहिये, तथापि एक विदेशी सरकार के लिए यह सर्वथा अशक्य है कि वह उन जहरीले कीड़ों को जो हमारे समाज की जड़ खोखली कर रहे हैं, उसके शरीर से निकाल कर बाहर फेंक सके। यह काम समाज के भद्र नेताओं का है, पर देश के दौर्भाग्य से हमारे समाज के नेता केवल राजनैतिक सुधार को ही देश की उन्नति का कारण समझते हैं और समाज सुधार की कोई आवश्यकता नहीं समझते। यदि कुछ समझते भी हैं तो लोकमत उसके विरुद्ध पाकर उसकी उपेक्षा करते हैं।

हम यह नहीं कहते कि किसी जाति को उठाने के लिए राजनैतिक सुधारों की आवश्यकता नहीं है, या राजकीय सहानुभूति और सहायता के बिना अशक्त और निर्बल प्रजा अपने मोक्ष का मार्ग सरल कर सकती है। पर हां यह हम अवश्य कहेंगे कि जो जाति सामाजिक सुधार के नाम से चौंकती हैं और जिसमें धर्म तथा लोकाचार की आड़ लेकर लोग निर्बलों पर मनमाना अत्याचार कर सकते हैं, उसको यदि राजनैतिक अधिकार मिल भी जांय तो वह उनसे कुछ विशेष लाभ नहीं उठा सकती। क्या हमारे लिए यह लज्जा की बात नहीं है कि हम सरकार से तो अपने स्वाभाविक और मनुष्योचित अधिकार मांगते हैं पर अपने भाई और बहनों के वे ही अधिकार खुद दबाये बैठे हैं। यदि हम धर्म या परम्परा का कृत्रिम सहारा लेकर ऐसा कर सकते हैं तो फिर सरकार यदि शान्तिरक्षा और सुव्यवस्था के नाम पर ऐसा करती है तो फिर हमारा क्या मुंह है कि इसके लिए हम सरकार को दोषी ठहरा सकें ? हम जो नीति अपनों के साथ बर्तते है, वही यदि विदेशी सरकार हमारे साथ बर्तता है तो इसमें उसका कुछ भी दोष नहीं, इसके कारण हमीं लोग हैं।

कहा जाता है कि आज डेढ़सौ वर्ष के बृटिशशासन में भी हमारी दशा वैसी ही है, जैसी कि इस शासन के आरम्भ में थी। हम मानते हैं कि बृटिश शासन में जैसी उन्नति हमारी होनी चाहिये थी, नहीं हुई, पर प्रश्न यह है कि इसका दायित्व बृटिशशासन पर है या हम पर ? पूर्वकाल में जब कि राजा लोग निरंकुश होते थे और प्रजा आंख मींचकर उनका अनुसरण करती थी, प्रजा की उन्नति और अवनति का दायित्व शासन पर रखना, चाहे न्याय संगत हो, पर बीसवीं शताब्दी

में जबकि सर्वत्र प्रजातन्त्र शासन का डंका बज रहा है, जिन देशों की प्रजा अपना शासन आप करती या कराती है, प्रजा को इस दायित्व से मुक्त करना अनुचित मालूम होता है। हमने अब तक अपनी जिस कट्टर प्रकृति का बृटिश अधिकारियों को परिचय दिया है, उसी के अनुसार उन्होंने हमारे लिए शासनयन्त्र निर्माण किया है। शासन की योग्यता प्रजा पर इतना प्रभाव नहीं डाल सकती, जितनी कि प्रजा की अयोग्यता शासन पर अपना प्रभाव डालती है। शासन के उन्नत होने से प्रजा आगे नहीं बढ़ सकती, पर प्रजा के असमर्थ होने से शासन पीछे हट सकता है। अतएव बृटिश जैसे सुशासन में भी यदि हम इस अधोगति को प्राप्त हैं तो इसका सारा दायित्व हमीं पर है। हम आप खुद अपना सुधार न करके दूसरों से अपना सुधार चाहते हैं, या यूं कहो कि अपने घर की अव्यवस्था न मिटाकर बाहर से सुव्यवस्था चाहते हैं, यह कैसे हो सकता है?

अब प्रकृत यह है कि यदि हम चाहते हैं कि हमारे मनुष्योचित अधिकार हमको मिलें तो जिन निर्बलों के मानुषिक अधिकारों को अब तक हम पैरों के नीचे कुचलते रहे हैं, उदारता पूर्वक पहले स्वयं उनको प्रदान करें। यदि हम चाहते हैं कि हमारी स्वतन्त्रता को कोई अपहरण न करे तो हम दूसरों की स्वतन्त्रता पर अनुचित आक्रमण करना छोड़ दें और यदि हम चाहते हैं कि हमारे साथ कोई ऐसा बर्ताव न करे, जिसे हम नहीं चाहते, तो हम भी दूसरों से उनकी इच्छा के विरुद्ध बर्ताव करना छोड़ दें। बस यही हमारी जातीय मुक्ति का मार्ग है "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"।*

---

* और कोई मार्ग हमारी मुक्ति का नहीं है।

चौथा अध्याय।

सामाजिक अत्याचार।

अब इस चौथे अध्याय में हम सहृदय पाठकों को उस अत्याचार का कुछ निदर्शन कराना चाहते हैं, जो हिन्दूसमाज में स्त्रीजाति पर हो रहा है और जिसके कारण हमारी सामाजिक और पारिवारिक दशा अत्यन्त ही शोचनीय और उद्वेजक हो रही है। वैसे तो जन्म से लेकर मरण पर्यन्त प्रत्येक बात में स्त्रियों की जैसी उपेक्षा और अनादर किया जाता है, तथा धर्म और लोकाचार की आड़ में जो २ अन्याय और अत्याचार इन पर किये जाते हैं, उनको देख या सुन कर जहां एक हृदयवान् व्यक्ति इनके धैर्य और सहिष्णुता पर मुग्ध हो जाता है, वहां पुरुषों की निष्ठुरता और हृदयहीनता पर आंसू बहाये विना भी नहीं रह सकता। उन अत्याचारों में तीन मुख्य हैं, जिनके कारण हिन्दूसमाज में स्त्रियों का जीवन व्यर्थ और शंकास्पद बन रहा है। वे तीन अत्याचार ये हैं (१) शिक्षा का अभाव, (२) बालविवाह, (३) वैधव्य। अब हम क्रमशः इनका कुछ वर्णन करेंगे।

शिक्षा का अभाव।

सब से पहला और बड़ा अत्याचार जो स्त्रीजाति पर किया जा रहा है, वह इनको शिक्षा से (जो मनुष्य के लिए सब से आवश्यक वस्तु है) वञ्चित रखना है। मनुष्य के लिए मानसिक मृत्यु शारीरिक मृत्यु से कहीं बढ़कर है, जैसा कि हितोपदेश में कहा है :—

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः ।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ (१)

इसके अतिरिक्त स्त्रियों के साथ हम जो अमानुषिक बर्ताव कर रहे हैं मन और इन्द्रियों के होते हुवे भी हम इनको अचेतन समझ रहे हैं, उसका कारण भी इनमें शिक्षा का अभाव ही है। यदि ये शिक्षिता होतीं तो कदापि इनकी यह दशा न होती। ये तो विचारी अविद्या की मारी अपने पद और अधिकार को जानती ही नहीं, पुरुष स्वार्थ के मद से उन्मत्त होकर इनके मनुष्योचित स्वत्वों का अपहरण किये बैठे हैं, वे इनको केवल अपने सुख की सामग्री समझते हैं। उनका यह धार्मिक विश्वास है कि ईश्वर ने इनको हमारे लिए उत्पन्न किया है। जैसे अठारहवीं सदी में अमेरिका के गोरे निवासी वहां के काले हबशियों की बाबत यह समझते थे कि इनकी उत्पत्ति का उद्देश सिवाय हमारे दासत्व के और कुछ हो ही नहीं सकता। इसलिए उन्होंने उनके लिए ऐसे क़ानून बनाये थे कि कोई दास न तो अपनी उपार्जित सम्पत्ति का, न अपनी स्त्री और सन्तति का मालिक हो सकता है, किन्तु ये सब उसी के हैं, जिसका वह है।

शिक्षा उनके लिए क़ानून में वर्जित थी, यदि कोई दयालु स्वामी उनको घर में कुछ शिक्षा देता भी था तो वह उनके सुधार के लिए नहीं, किन्तु अपने सुभीते के लिए। यूरोप और अमेरिका से आज उस दासत्वप्रथा को (जो अपने से भिन्न जातिवालों के लिए थी) उठे हुवे युग बीत गये और अब

(१) अजात, मृत और मूर्ख में पहले दो अच्छे, अन्त का नहीं। क्योंकि पहले दो एक बार दुःख देते हैं, अन्तिम तो पद पद पर दुःख का कारण होता है।

वहां वह बड़ी घृणा की दृष्टि से देखी जाती है। पर भारत में उस जाति में जो अपने को संसार की सभ्यता का आदिगुरु कहती है, इस बीसवीं शताब्दी में कोई और नहीं, हमारे गृहस्थाश्रम की अधिष्ठात्री देवियां ही (जिनको अपना अर्धाङ्ग कहते हुवे हमको लज्जा नहीं आती) इस दासत्व की प्रथा में जकड़ी हुई हैं। अन्तर केवल इतना है, कि वहां दास बेचे जाते थे, यहां जन्म भर के लिए बन्दी बना कर रक्खे जाते हैं। न इनका पिता की सम्पत्ति में कुछ भाग है और न ये पति की सम्पत्ति में दूसरा विवाह न करने पर भी कोई स्वत्व रखती हैं। कहीं शास्त्र और कहीं लोकाचार की आड़ लेकर हम इनके साथ भेड़ और बकरी का सा सलूक कर रहे हैं। इससे अधिक और अत्याचार क्या होगा कि हमने इनको शिक्षा से ही वञ्चित करके मनुष्य से पशु बना दिया ?

अब हम संक्षेप से उस हानि और दुरवस्था का कुछ दिग्दर्शन कराना चाहते हैं जो स्त्रीशिक्षा के न होने से भारतीय समाज की हो रही है।

सन्तान का अयोग्य होना ।

प्राचीन और अर्वाचीन सभी विद्वानों का मत है कि सन्तान पर माता का जितना प्रभाव पड़ता है, उतना और किसी का नहीं। माता जैसा चाहे वैसा संतान को बना सकती है। यही कारण है कि मनुस्मृति में हज़ार पिताओं के बराबर एक माता को गौरव दिया गया है :—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रन्तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ (१)

---

(१) दस उपाध्याय के बराबर एक आचार्य, सौ आचार्यों के समान एक पिता और हज़ार पिताओं के समान एक माता गौरव रखती है।

इतिहास भी हमको यही बतला रहा है कि संसार में जितने प्रतिभाशाली असाधारण पुरुष हुवे हैं, उनके बनाने में इस जगद्धात्रीशक्ति का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है। कपिल, अलर्क, भीष्म, अर्जुन, अभिमन्यु, कालिदास, शिवाजी, शेक्स-पियर और नेपोलियन जैसे विद्वान् और वीर जो आज संसार को अपनी विद्वत्ता और वीरता से मुग्ध कर रहे हैं, इन्हीं देवियों की शिक्षा और दीक्षा से वैसे बने थे।

आज क्या कारण है कि हमारे शतशः उपाय करने पर भी हमारी सन्तान जैसी हम चाहते हैं, नहीं बनती। जब सांचा ही बिगड़ा हुवा है तो उससे अच्छे सिक्के कैसे ढल सकते हैं? हम अपनी सन्तान को योग्य बनाने के लिए क्या कुछ नहीं करते। यहां तक कि बहुत से हमारे निर्धन भाई अपना पेट काट कर भी अपने बच्चों को स्कूलों में भेजते हैं, जिनको पर-मेश्वर ने कुछ सामर्थ्य दिया है, वे योग्य शिक्षकों को सन्तान की शिक्षा के लिए नियत करते हैं। इतने उपाय करने पर भी सैकड़ों में क्या हज़ारों में कोई बिरलाही जिसके पूर्वसंस्कार अच्छे हैं, योग्य बनता है। इसका कारण यही है कि हम जड़ को न सींच कर पानी की फुँवार से पत्तों को हरा रखना चाहते हैं, सो यह कैसे हो सकता है?

प्रत्यक्ष देख लो, जिन देशों में स्त्रीशिक्षा का प्रचार है, उनको जनसंख्या अल्प होते हुवे भी, उनमें योग्य पुरुषों की बहुलता है। भारत में ३२ करोड़ जनसंख्या के होते हुवे भी योग्य पुरुषों का ऐसा दुर्भिक्ष क्या यह सूचित नहीं करता कि यहाँ अवश्य शिक्षा की कल बिगड़ी हुई है और वह बिगड़ी हुई कल यही है कि जिसकी कुक्षि से हम जन्म लेते हैं, जो ६ महीने हमको गर्भ में रख कर हमारे अङ्ग, प्रत्यङ्ग और उनकी

आकृति ही नहीं बनाती किन्तु इस मांसास्थिपिण्ड में अपने आचार विचार के संस्कार डाल कर हमारे चरित्र को भी निर्माण करती है, उसको मूर्ख रख कर हम योग्य बनना चाहते हैं, क्या इससे अधिक और कोई मूर्खता हमारी हो सकती है? अतएव जब तक शिक्षा के द्वारा हम इन गृहदेवियों का संस्कार न करेंगे, अपना सर्वस्व लगा देने पर भी हम अपनी सन्तान को योग्य नहीं बना सकते।

गृहस्थ की दुर्दशा।

सभी जानते हैं कि गृहस्थ के प्रबन्ध का सारा भार स्त्रियों पर होता है, पुरुष तो दिन भर आजीविका के चक्र में घूमते हैं, रात को थक कर सो रहते हैं, उनको इतना अवकाश कहां कि वे किसी बात के प्रबन्ध को सोच सकें या उसके उपायों को काम में लावें। यद्यपि आजकल भी उन सब कामों को स्त्रियाँ ही संपादन करती हैं, तथापि अविद्या के कारण उनके सब काम बेढंगे और उलटे होते हैं। न वे घर का हिसाब किताब ही रख सकती हैं और न किसी खर्च में किफ़ायत ही निकाल सकती हैं। सन्तानों के पढ़ाने लिखाने और उनकी स्वास्थ्य-रक्षा में धन का उपयोग करना वे अपव्यय समझती हैं, पर ब्याह शादियों में झूठी नामवरी के लिए बड़े बूढ़ों की पसीने की कमाई का भी स्वाहा कर देना उनको नहीं अखरता, अलब्ध की प्राप्ति और प्राप्त की वृद्धि करना तो कठिन काम है, केवल लब्ध की रक्षा भी वे नहीं कर सकतीं, न कोई काम उनका देश काल के अनुकूल होता है और न वे समय का सदुपयोग करना जानती हैं। भोजन के समय जो प्रियालाप का है, घर का सारा दुखड़ा लेकर बैठती हैं और सन्ध्या का समय जो ईश्वरके गुणानुवाद का है वृथालाप और दूसरों के परिवाद में खोदेती

हैं। मङ्गलगान के समय अश्लील गीत गाने लगती हैं, आनन्द और उत्सव के समय कलह और विवाद कर बैठती हैं, जिससे सारा उत्साह भङ्ग होकर चित्त उद्विग्न हो जाता है और गृहस्थाश्रम कांटे की तरह खटकने लगता है। सच है गृहस्थ को स्वर्ग या नरक बनाना गृहिणी का हो काम है।

विपरीत व्यवहार।

सास, श्वसुर, माता, पिता आदि वृद्धों की सेवा करना और उन से नम्रता रखना, पति से प्रेम का होना और उसका विश्वास एवं प्रियाचरण करना, देवर तथा पुत्रादि पर अनुग्रह दृष्टि रखना, यदि कुचेष्टा करें तो ताड़ना करना, सम्बन्धियों से स्नेह और पड़ोसियों से मैत्रीभाव रखना, इसप्रकार सब से यथायोग्य व्यवहार करने से ही स्त्रियां गृहस्थ का भूषण बन सकती हैं। परन्तु आजकल शिक्षा के अभाव से स्त्रियां जानती ही नहीं कि किसका हमसे क्या सम्बन्ध है और कौन हमारे प्रति और हम किसके प्रति क्या कर्तव्य और अधिकार रखती हैं? इसलिए प्रायः उनके व्यवहार विपरीत ही होते हैं।

बहुधा देखा जाता है कि स्त्रियां अपने वृद्ध सास श्वसुर की सेवा स्वयं तो कहां से करेंगी, किन्तु पति को भी अपनी कुमन्त्रणा से उनके विरुद्ध बना देती हैं, जिससे विचारे उस वृद्धावस्था में जब कि मनुष्य अशक्त होने से परमुखापेक्षी हो जाता है, निराश्रय होकर अनेक कष्ट उठाते हैं। वृद्धों और मान्यों की पूजा और भक्ति के स्थानमें स्वार्थी और मिथ्या वारी पंडे, पुजारी और बनावटी साधुओं की पूजा और भेंट चढ़ाती फिरती हैं। या किसी लाल भुजक्कड़ को गुरु बनाकर और

उससे गले में कण्ठी बन्धवाकर या कान में मन्त्र फुंकवाकर उसकी सेवा और शुश्रूषा करना अपना धर्म समझती हैं। यदि इनमें विद्या होती तो "पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्" तथा "पतिसेवा गुरौ वासः" इत्यादि शास्त्रवचनों का अनादर क्यों करतीं? देवरादि जो पुत्रवत् शिक्षणीय होते हैं, उनसे उन्मत्त होकर हंसी ठट्ठा और क्रीड़ा आदि (जो साध्वी स्त्री के लिए वर्जित हैं) करती हैं। फिर वे भी उद्दण्ड और धृष्ट होकर जहां तक उनसे हो सकता है, इनकी मट्टी पलीद करते हैं। सम्बन्धियों से ईर्ष्या और पड़ौसियों से कलह करना तो इनके लिए एक साधारण बात है। निदान शिक्षा के न होने से इनके सारे काम उल्टे ही देखने में आते हैं।

दाम्पत्यप्रेम का अभाव।

गृहस्थ का आनन्द तब ही है, जबकि पतिपत्नी में सच्चा प्रेम हो, वे कुल धन्य और वे गृह स्वर्गधाम हैं, जहां पति-पत्नी में प्रेम और एक दूसरे का विश्वास है। चाहे गृह धन, धान्य और परिजन से पूर्ण हो और उसमें किसी बात की कमी न हो, पर एक प्रेम के न होने से गृहस्थ फीका पड़ जाता है। जहां प्रेम का निर्मल स्रोत बहता है, वहां चाहे और कुछ भी न हो, पर दुःखरूप कूड़ा कर्कट रहने नहीं पाता। देखो प्रेम ने ही सीता को जङ्गल में मङ्गल कर दिया और अप्रेम ने ही कैकेयी को राज्य से सुख न भोगने दिया। गृहस्थ में जो कुछ है, सब प्रेम का ही माहात्म्य है, जिसके वर्णन करने में बड़े २ ऋषि मुनि भी असमर्थ हैं।

यह प्रेम जो गृहस्थ का जीवनाधार है, स्त्री पुरुषों में कब और क्योंकर हो सकता है? सृष्टिनियम बतला रहा है कि मनुष्य में साधर्म्य से प्रीति और वैधर्म्य से द्वेष का होना

स्वाभाविक है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि विद्वानों को मूर्खों से और श्रीमानों को दरिद्रों से चाहे सहानुभूति हो जाय, पर प्रेम जिस वस्तु का नाम है, वह समता में ही ठहर सकता है, विषमता में नहीं। भला प्रकाश और अन्धकार का भी कहीं मेल हो सकता है? पति तो ईश्वर की कृपा से ग्रेज्युयेट हैं, कई भाषा जानते हैं, उनकी अर्द्धाङ्गिनी को सौ तक गिनती नहीं आती और वह अपनी मातृभाषा तक को लिख पढ़ नहीं सकती, वे विनय और सभ्यता में बढ़े हुवे हैं, ये हठ और उजड्डपन में किसी से कम नहीं। वहां रातदिन दर्शन, विज्ञान, राजनैतिक और ऐतिहासिक विषयों की चर्चा है, यहां रातदिन भूत-प्रेत मसान और ऊतों की कथा और अर्चा है। वहां विद्वान् और देशभक्तों का मान है, यहां स्वार्थी और दम्भी लोगों की पूजा हो रही है। जब इनकी दशा में रातदिन का सा अन्तर है, तब प्रेम कैसा? साधारण मेल भी नहीं रह सकता।

यही कारण है कि हमारे देश में एक नहीं, दो दो तीन तीन स्त्रियों के होते हुवे भी बहुधा नवयुवक चकलों की हवा खाते हैं क्योंकि घर की स्त्रियां अशिक्षिता होने से उनके चित्त को आकर्षित नहीं कर सकतीं, पर पण्य स्त्रियां चतुर होने से उनके मन को अपनी मुट्ठी में कर लेती हैं और फिर मनमानी उनकी हजामत बनाती हैं। यदि हमारे देश की कुल स्त्रियां शिक्षिता होतीं तो आज यह व्यभिचार का बाज़ार गरम न होता तथा सैकड़ों कुल और उनकी प्रतिष्ठा इसकी भेंट न चढ़ती।

प्रिय मित्रो! यदि आप गृहस्थ की पवित्रभूमि में प्रेम का मनोहर बीज बोना चाहते हैं, तो अपनी गृहदेवियों को शिक्षा के भूषण से अलंकृत कीजिए, अन्यथा पुरुषों को भी उनके समान बनाइये। भला कहीं प्रकाश और अन्धकार का भी मेल

हुआ है ? इत्यादि और भी अनेक हानियां हैं, जिनको विस्तर-भय से हम नहीं लिख सकते।

बालविवाह।

दूसरा अत्याचार जो स्त्रियों पर हो रहा है, बालविवाह है, यद्यपि इस अत्याचार से पुरुष भी बचे हुए नहीं हैं, तथापि ख़र्बूज़ा छुरी पर गिरे या छुरी ख़र्बूज़े पर गिरे, दोनों दशाओं में विनाश ख़र्बूज़े का ही है। अतएव बालविवाह का परिणाम भी इसी अबला जाति के लिए भयंकर और दुःखदायी होरहा है। बालविवाह के दोष दिखलाने के पूर्व हम पाठकों को विवाह का कुछ परिचय देना चाहते हैं कि यह क्या वस्तु है और इसका उद्देश या प्रयोजन क्या है ?

'वि' उपसर्ग पूर्वक 'वह' धातु से जिसका अर्थ प्राप्ति है, विवाह शब्द बनता है। जिसके द्वारा विशेष रूप से स्त्रीपुरुष एक दूसरे को प्राप्त होते हैं, उसका नाम विवाह है और हिन्दू समाज में यह एक पवित्र संस्कार माना गया है, जिसमें स्त्री-पुरुष आजीवन एक दूसरे के हाथ बिक जाते हैं। वे यज्ञ करते हुवे एक दूसरे का हाथ पकड़कर उपस्थित जनों के सम्मुख यह प्रतिज्ञा करते हैं कि "आज से हम दोनों अपनी स्वतन्त्रता एक दूसरे के हाथ बेचते हैं, कभी एक दूसरे का अविश्वास एवं अप्रियाचरण न करेंगे।" इस प्रकार एक दूसरे की प्रसन्नता और सहयोगिता से गृहस्थधर्म का पालन करते हुए उत्तम सन्तानरूप फल को उत्पन्न करना विवाह का सर्वसम्मत उद्देश है।

पाठक! अब आप समझ गये होंगे कि यह कितने बड़े दायित्व का काम है, जिसमें दो प्राणी जीवन भरके लिए एक दूसरे के हाथ बिक जाते हैं। जिन जातियों में दोनों में से एक

के न रहने पर या जीवन में भी कई कारणों से यह सम्बन्ध टूट सकता है, उनमें कैसी दूरदर्शिता और वरवधू की परीक्षा के बाद यह काम किया जाता है। पर जिस अभागिनी जाति में जीवनावस्था में तो क्या मरणानन्तर भी यह सम्बन्ध नहीं टूटता, लड़कों का खेल समझा जा रहा है। आश्चर्य तो इस बात पर है कि जिन कामों का सुधार हम अल्प व्यय और श्रम से कर सकते हैं, उनमें तो हम अपनी दूरदर्शिनी बुद्धि का वह परिचय दिखाते हैं कि अफलातून और अरस्तू भी आकर हम से हिकमत सीख जावें। पर जिस बिगाड़ को हम अपने प्राण देकर भी नहीं सुधार सकते, उसके लिये साधारण बुद्धि से काम लेने की आवश्यकता भी हम नहीं समझते। एक पैसे की हाँडी को मोल लेते समय आंखें फाड़ फाड़ कर हम देखते हैं और ठोक बजा कर परखते हैं, पर अपनी इन पुत्रियों और बहनों को (जो हमारे लिए अपने प्राण तक दे सकती हैं) आंखें बन्द करके एक अजनबी पुरुष को दे देते हैं।

अब हम संक्षेप से उन अनर्थों का कुछ वर्णन करेंगे जो बालविवाह से उत्पन्न होते हैं और जिनके कारण हिन्दूसमाज दिन पर दिन क्षीण और पतनोन्मुख हो रहा है।

विवाह के उद्देश का पूरा न होना।

जो काम जिस प्रयोजन के लिए किया जाता है, यदि उस काम से वह प्रयोजन सिद्ध न हो तो उसका होना न होने के बराबर है। पढ़े लिखे ही नहीं, किन्तु अशिक्षित लोग भी इस बात को जानते हैं कि विवाह के दो प्रयोजन हैं। एक स्त्री पुरुषों में परस्पर प्रेम का होना, दूसरा उत्तम सन्तान का उत्पन्न करना। सो इन दोनों बातों का सम्बन्ध युवावस्था से है, बाल्यावस्था, दाम्पत्यप्रेम और सन्तानोत्पत्ति इन दोनों के

अयोग्य है। यही कारण है कि संसार के किसी भी सभ्य देश में बालविवाह की रीति प्रचलित नहीं है। जो व्यक्ति जिस काम के योग्य नहीं है, उस पर उसका भार लादना न केवल उसको हानि पहुँचाना है, किन्तु उस काम की भी रेड़ लगाना है। अतएव जो काम जिस अवस्था से सम्बन्ध रखता है, उसी में उसका होना श्रेयस्कर है।

सब जानते हैं कि बालकों का स्वभाव चपल होता है, उनमें विद्या, बुद्धि और अनुभव के न होने से उनके आचार, विचार और सङ्कल्पादि सब अस्थिर होते हैं। इसी लिए युवावस्था में उनकी बिलकुल काया पलट जाती है। फिर भला उस अबोध अवस्था में किया हुवा काम सो भी अपनी इच्छा या आवश्यकता से नहीं, किन्तु मातापिता की इच्छा से, युवावस्था में जब कि बुद्धि और अनुभव से काम लिया जाता है, क्योंकर रोचक हो सकता है? इसके अतिरिक्त चेचक आदि रोगों के कारण दोनों की शारीरिक दशा में भी बहुत कुछ अन्तर पड़ जाने की संभावना रहती है। इसलिए बाल्यावस्था की अनुकूलता पर भी काम करना दूरदर्शिता से दूर है। पर हमारे दूरदर्शी भाई तो इसकी भी कुछ परवा नहीं करते, बालविवाह में भी रूप, वय, गुण और शील की परीक्षा करना अनुचित समझते हैं। उनकी दृष्टि में वरवधू का ग्रहसाम्य हो जाना दैवी अनुकूलता है, फिर उसके सामने शारीरिक वा गौणिक आनुकूल्य की आवश्यकता ही क्या है? और यह ग्रहसाम्य कैसा विचित्र है कि कहीं ६० वर्ष के बूढ़े खूसट और १० वर्ष की सुकुमारी कन्या का हो जाता है और कहीं २० वर्ष के युवा और १६ वर्ष की युवती का नहीं होने पाता। पर लाख ग्रहसाम्य हो जाओ गौणिक तथा दैहिक अनुकूलता के न होने

से स्त्रीपुरुषों में रातदिन देवासुर संग्राम मचा रहता है और फिर जो जो अनर्थ और दुराचार होते हैं, उनके लिखने में लेखनी सर्वथा असमर्थ है।

इस दशा में भी पुरुषों को तो स्वतन्त्रता है, यदि स्त्री उनके अनुकूल नहीं है, तो वे उसके होते हुवे दूसरा विवाह भी कर सकते हैं, परस्त्रीगमन से भी उनका धर्म नहीं बिगड़ता और वेश्यायें तो उन्हीं के प्रताप से सदा सुहागिन बनी हुई हैं। परन्तु इस अनमेल की दशा में स्त्रियों की जैसी दुर्दशा होती है उसका स्मरण करके रामाञ्च होता है। पति चाहे कैसा ही कुरूप, अन्धा, नपुंसक, व्यसनी और दुराचारी क्यों न हो और जो सलूक व्याघ्र बकरी के साथ करता है, वही अपनी स्त्री के साथ क्यों न करता हो, पर उसके लिए वह साक्षात् ईश्वर के समान है। ये उसके सिवाय अन्य पुरुषों को देखने से भी पापिनी होती हैं।

हमें भय होता है कि कोई महाशय हमको पतिव्रतधर्म का विरोधी कह कर अपराधी न ठहराने लगें। वास्तव में ऐसे लोगों से जो मरे हुवों को मारने में शूर, वञ्चित को ठगने में प्रवीण और शरणापन्न को मरणासन्न करनेवाले हैं, यह शंका असमंजस नहीं है। अस्तु, ऐसे लोग चाहे कुछ समझें परन्तु हम अपने आशय को प्रस्फुट किये देते हैं। हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि जो लोग अपनी स्त्रियों को गृहलक्ष्मी समझ कर उनका शास्त्रोक्त यथोचित मान और सत्कार करते हैं और स्त्रियों के लिए जैसा पतिव्रतधर्म को आवश्यक समझते हैं, वैसा ही किन्तु उससे भी अधिक अपने लिए स्त्रीव्रत धर्म को, उनकी स्त्रियाँ उनको देववत् न मानें और उनकी पूजा तथा सेवा न करें। परन्तु जो निर्दय इन अबलाओं के साथ

वनचरों का सा वर्त्ताव करते हैं, वे उस मान और पूजा के अधिकारी कदापि नहीं हो सकते ।

गृहस्थाश्रम की दुर्दशा ।

गृहस्थाश्रम सब आश्रमों में बड़ा है, इसके भार को उठाना साधारण मनुष्यों का काम नहीं। जिन्होंने ब्रह्मचर्य धारण करके शारीरिक और आत्मिक बल संपादन नहीं किया, वे कदापि गृहस्थाश्रम के भार को धारण नहीं कर सकते । मन्वादि धर्मशास्त्रों में इस आश्रम की बहुत कुछ महिमा वर्णन की गई है और इस बात पर अधिक बल दिया गया है कि जिनका आत्मा और शरीर निर्बल हैं, वे कदापि इस आश्रम में प्रवेश करने का साहस न करें ।

आज हम अपनी आंखों से कैसा करुणाजनक दृश्य देख रहे हैं कि वह आर्यसन्तान जो कभी कम से कम २५ वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करके पूर्ण शारीरिक और आत्मिक बल प्राप्त करने के बाद इस आश्रम में प्रवेश करती थी, आज उस अवस्था में जब कि उसके दूध के दांत भी नहीं टूटते, धड़ाधड़ इस गृहस्थ की गाड़ी में जिसमें चारों आश्रमों का बोझ लदा हुवा है, जोती जा रही है । क्या सचमुच आठ २ या दस २ वर्ष के छोकरों में इतनी शक्ति है कि वे इस गाड़ी को चला सकें ? चलाना तो दूर रहा, वे इसके बोझ को सह भी नहीं सकते । भला सहें कैसे ? जिस बोझ के उठाने में बड़े २ विद्वान् और बलवान् भी श्रान्त हो जाते हैं, उसको वे अबोध बालक, जिनमें न तो विद्या है न शारीरिक बल, क्योंकर उठा सकते हैं ? जब यह भार असह्य हो जाता है, तब उस अबला को निराश्रय छोड़ कर घर से निकल भागते हैं, या कहीं सिर मुंडा कर साधु बन जाते हैं । यदि घर में भी रहें तो दिनरात उपद्रव करते हैं, आभूषण,

वस्त्र, पात्र जो कुछ हाथ लगा, चोरों की भांति ले भागते हैं। और जब कुछ न रहा, तब घरवालों को तंग करते हैं। परन्तु स्त्री के पास कुबेर का कोष तो है ही नहीं जो इनकी बेकारी और अनागम की अवस्था में भी पर्याप्त हो। स्त्री भी रातदिन के झगड़ों से तंग आकर यदि मातापिता का कुछ सहारा मिला तो उनकी शरण लेती है, पर जिसका घरमें ठिकाना नहीं, उसे बाहर कौन पूछता है? वहां यदि अनादर और अवज्ञा के साथ टुकड़ा मिल ही गया तो क्या हुआ? और यदि यह भी न हुवा तो फिर "बुभुक्षितः किन्नकरोति पापम्" इस कहावत के अनुसार निन्द्य और अकर्तव्य कर्मों का आचरण करने लगती हैं, जिस से समाज में इनकी चर्चा और तिरस्कार होने लगता है। उससे तंग आकर ये या तो ईसाई या मुसलमान हो जाती हैं, जो इनको सदा आश्रय देने के लिए तय्यार हैं। या यदि धूर्तों के जाल में फंस गईं तो फिर बाजारों में बैठ कर पातिव्रत्य धर्म की धूल उड़ाती हैं। इस प्रकार सैकड़ों कुलों की प्रतिष्ठा और मर्यादा इस बालविवाह की भेंट चढ़ती है।

बालविधवाओं की वृद्धि।

सन् १९२१ ई० की मनुष्यगणना की रिपोर्ट बतलाती है कि इस देश में ६० लाख से ऊपर विधवायें ऐसी हैं, जिनकी अवस्था २५ वर्ष से कम है। अब प्रश्न यह है कि ये कहाँ से आईं और किसने बनाईं? हमारे भाग्यवादी भाई शायद इसका दोष कर्म या भाग्य को दें, पर वास्तव में कर्म या भाग्य का इसमें कुछ भी दोष नहीं है, यह सब हमारा अपराध है हम जान बूझ कर अपने हाथ से अपने कर्म और भाग्य की रेड़ लगाते हैं। हम सृष्टिनियम के विरुद्ध, ऋषियों के आदेश के विरुद्ध और सभ्य जगत् की परिपाटी के विरुद्ध, बालक और

बालिकाओं का या बूढ़ों और रोगियों का कुमारी कन्याओं से विवाह रचाते हैं। यह सब उसी का फल है। हम इस बात को जानते हुवे भी कि बच्चे और बूढ़ों पर मृत्यु का अधिकतर आक्रमण होता है, उनका विवाह करते हैं, फिर यदि उसका यह अशुभ परिणाम होता है तो कर्म या भाग्य को दोष देने लगते हैं। क्या यह वही बात नहीं कि "छलनी में दुहें और भाग्य को कोसें।"

बालविवाह और वृद्धविवाह यही दो मशीनें हैं, जो इस अभागे देश में बालविधवाओं की संख्या बढ़ा रही हैं। विधवा-विवाह के अप्रचार ने इनकी भयंकरता को और भी बढ़ा दिया है। जो जातियां विधवाविवाह को बुरा नहीं समझतीं, वे तो अपनी सन्तानों का युवावस्था में विवाह करें और जो जाति विधवाविवाह को हव्वा समझती है, उसमें धड़ाधड़ बाल-विवाह और वृद्धविवाह हों, इसी को कहते हैं "कोढ़ में खाज"। होना तो यह चाहिए था कि जो जाति विधवाविवाह को अच्छा नहीं समझती, उसमें बालविवाह या वृद्धविवाह का कहीं नाम भी सुनने में न आता। किसी ने सच कहा है, "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।" यदि ये बालविवाह और वृद्धविवाह की दुष्ट प्रथायें हमारे देश में प्रचलित न होतीं तो आज ये ६० लाख विधवायें संसार को क्यों हमारी हृदयहीनता का परिचय देतीं।

शिक्षा और स्वास्थ्य की हानि।

वह जाति जिसमें आत्मिक और शारीरिक बल नहीं है, बहुत दिन तक संसार में नहीं ठहर सकती। जातीय जीवन के लिए संसार में यही दो संजीवनीशक्ति हैं, जिनसे किसी जाति के अस्तित्व का पता लगता है। इन्हीं की साम्यावस्था

को उन्नति और विषमावस्था को अवनति कहते हैं। सभ्य शिरोमणि आर्यों ने इन्हीं दोनों शक्तियों को उपार्जन करने के लिए प्राकृतिक नियमों के आधार पर ब्रह्मचर्य की नींव रक्खी थी, जिसका उद्देश शिक्षाद्वारा आत्मिक उन्नति और वीर्यरक्षा-द्वारा शारीरिक उन्नति करने का था। शोक कि आज इस ऋषि-भूमि में ब्रह्मचर्य का स्थानापन्न बालविवाह बना हुआ है, जिसने इन दोनों शक्तियों की जड़ काट कर फेंक दी और उस जातिको जिससे संसार की समस्त सभ्यजातियों ने सभ्यता उधार ली थी, आज असभ्य और मूर्ख ही नहीं किन्तु महानिर्बल, दीन और परमुखापेक्षी भी बना दिया।

आजकल जिस अवस्था में पुत्र और पुत्रियों के विवाह होते हैं, वह ठीक उनके विद्यारम्भ करने की अवस्था है। द्विरागमन तक पुत्रों को तो कुछ अवकाश मिलता भी है, पर इससे होता क्या है, अधूरी शिक्षा पाकर वे घर के रहते हैं न घाट के। अब रहीं पुत्रियां, सो विवाह के पश्चात् उनका पुस्तक हाथ में लेकर पाठशाला में जाना (चाहे वह पुत्री पाठशाला ही क्यों न हो) अनुचित समझा जाता है। चाहे घाटों और मन्दिरों की फेरी, मठों और दरगाहों की यात्रा, साधु और महन्तों के दर्शन करने में सारे नगर की परिक्रमा देती फिरें। पुस्तक पढ़ने के लिए घर के काम धन्धों से अवकाश नहीं मिलता चाहे सीटने और वृथालाप में दिन ही नहीं रात भी व्यतीत हो जाय। यदि किसी को पढ़ने लिखने की कुछ रुचि हुई भी तो वर्णबोध होने पर गोपीचन्द या गुलबकावली पढ़ने लगी बस फिर क्या था ? वे अपने को पढ़ी लिखी समझदार और दूसरी अपनी बहनों को मूर्ख और गंवार समझने लगती हैं। यद्यपि इसमें दोष शिक्षाप्रणाली का भी है, तथापि बाल-

विवाह उनको उत्तम शिक्षा प्राप्त करने का अवसर ही नहीं देता। माता पिता के यहाँ खेल कूद में अपना समय बिताती हैं, सुसराल में जाकर पहले तो लज्जा और संकोच में डूबी रहती हैं; फिर एकबारगी विषयवासना में निमग्न होकर अपनी ही आरोग्यता नहीं खो बैठतीं, किन्तु पति और पुत्रादि के स्वास्थ्य को भी बड़ी हानि पहुँचाती हैं।

सन्तान का निर्बल एवं क्षीण होना।

सबसे बड़ी हानि जो इस बालविवाह से हमारी जाति की हो रही है, वह हमारे उत्तराधिकारियों का, जिन पर हमारी जातीयसत्ता अवलम्बित है, उत्तरोत्तर क्षीण और बलहीन होना है। सब जानते हैं कि कच्चे या सड़े बीज से जो फल उत्पन्न होता है, वह बहुत दिन तक नहीं ठहरता। इसी लिए बुद्धिमान् माली और किसान कच्चे या सड़े फल के बीज को नहीं बोते और न ऐसी भूमि में बोते हैं, जो उत्पन्न करने की योग्यता न रखती हो। परन्तु आज कल हमारे देश में यह नियम वृक्षादि के लिए ही काम में लाया जाता है, मनुष्यों के लिए इसकी आवश्यकता नहीं समझी जाती। एक मूर्ख किसान कच्चे या सड़े बीज को ऊसर भूमि में बोने की मूर्खता कभी नहीं करता, पर हम पढ़े लिखे लोग बच्चों के कच्चे और बूढ़ों के सड़े बीज को उस भूमि में जो उत्पादक शक्ति नहीं रखती धड़ाधड़ बो रहे हैं। क्या इस दशा में हम उत्तम फल (सन्तान) की आशा कर सकते हैं? महाभारत उद्योग पर्व में कहा है:—

वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति॥

यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
फलाद्रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥ (१)

अपक्व वीर्य से जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह यही नहीं कि आप अयोग्य और असमर्थ हो, किन्तु उससे जो आगे की सन्तान होती है वह और भी अधिक क्षीण एवं बलहीन हो कर एक दिन उस जाति की सत्ता और चिन्ह ही संसार से मिटा देती है। भला जिस देश में १४ या १५ वर्ष के छोकरे और १२ या १३ वर्ष की छोकरियां सन्तान उत्पन्न करने के योग्य समझे जाते हैं, उसकी कुशल कब तक मनाई जा सकती है? द्विरागमन को हुवे यदि एक वर्ष बीत जाय और कोई रेंगटा उत्पन्न न हो तो घर भर में खलबली मच जाती है। ज्योतिषी, सामुद्रिक और स्याने इन सब की आवभगत होने लगती है, यदि इनके छूमन्तर से कोई कीड़ा उत्पन्न हो गया, तब तो इनके पौ बारह हैं, मनमाना पुरस्कार पाते हैं और फिर रात दिन उस रोगपुञ्ज के लिए इनकी आवश्यकता बनी ही रहती है और यदि न हुवा तब भी इनकी पूछ बनी ही रहती है।

यही कारण है कि आजकल सौ में बीस को भी ठीक समय पर प्रसव नहीं होता, प्रायः सतमासिये और अठमासिये उत्पन्न होते हैं, जो अधिकांश तो पैदा होते ही कालकवल हो जाते हैं और जो बच रहते हैं, वे ज्यों त्यों अपने दिन पूरे करते हैं। हमारी समझ में तो जो विवाह से पहले अपनी जीवन-

(१) जो वनस्पति के कच्चे फलों को चुनता है, वह उनके मधुर रस से ही वञ्चित नहीं रहता, किन्तु बीज का भी नाश करता है और जो समय पर पके हुवे फल ग्रहण करता है वह फलों से रस और बीज से पुनः फल प्राप्त करता है।

लीला समाप्त कर देते हैं, वे बड़े भाग्यवान् और धर्मात्मा हैं। क्योंकि विवाह के पश्चात् मरने से एक अबला का जीवन नष्ट कर जाते हैं, जो आजीवन सन्तापाग्नि में जलती हुई दोनों कुलों को अपने शाप से भस्म करती है। आजकल जो भारत-सन्तान अधिकतर अकाल मृत्यु की भेंट चढ़ रहा है, उसका कारण भी यही बालविवाह और वृद्धविवाह है। इस देश के बच्चों की मृत्युसंख्या पर जब हम ध्यान देते हैं तो हृदय कांप उठता है। दुर्दैव से इस देश में जो आत्मायें मनुष्यजन्म का चोला धारण करती हैं, उनमें से आधी बचपन में ही अपनी मानवलीला समाप्त कर देती हैं और कोई २ तो अपने साथ अपनी जन्मदात्री को भी ले जाती हैं। जो आधे बच रहते हैं, वे ज्यों त्यों करके अपने दिन पूरे करते हैं, इनके चेहरे पीले पड़े हुवे हैं, पेट फूला हुआ है, गाल पटके और हाथ पैर सूखे हुवे हैं। बचपन जो स्वाभाविक रीति पर खिलने की अवस्था थी, उसी में मुरझा जाना इससे बढ़कर किसी जाति का दुर्दैव और क्या हो सकता है? बालविवाह ही हमारे जातीय ह्रास के लिए कुछ कम न था, उस पर अनमेल विवाह और वृद्ध-विवाह तो जाति को नाश के समीप ले जा रहे हैं।

वैधव्य ।

तीसरा अमानुषिक अत्याचार जो इस अबला जाति पर हो रहा है, वैधव्य है। यह वह अत्याचार है, जो स्त्रियों को जलरहित मीन की तरह तड़पा रहा है और यह वह दुःख है कि जिसका उनके जीवन भर कभी अन्त नहीं होता। विधवा होते ही मानो उनकी आशा लता पर बिजली गिर पड़ती है। जिस आशा के अवलम्बन से, चाहे वह झूंठी ही हो, मनुष्य बड़े से बड़े दुःख को सहन और बड़ी से बड़ी कठिनता का

मुक़ाबला करता है, उस जीवनसंचारिणी, सर्वदुःखापहारिणी आशा से ही इनका हृदय शून्य हो जाता है, फिर जीवन इनके लिए शूल नहीं तो क्या हो? मन और इन्द्रियों के होते हुवे ये उनके उपयोग से वञ्चित कर दी जाती हैं।

संसार के विचित्र पदार्थ और सुन्दर दृश्य जो औरों के आमोदप्रमोद का कारण हैं, इनके लिए महा भयंकर और दुःखदायी हो जाते हैं। अपना दुखड़ा रोने और दूसरों को सुनाने से हलका पड़ जाता है, पर ये अपनी स्वाभाविक लज्जा और संकोच के कारण न तो जी भरकर रोही सकती हैं और न किसी के सामने अपने दुःख को प्रकट ही कर सकती हैं। मन की बात मन ही में रखकर रातदिन चिन्तानल में जलना और कुढ़ २ कर अपने शरीर को घुलाना बस संसार में इसी लिए इन्होंने जन्म लिया था। सारे रोगी मौत से बचने के लिए औषधि करते हैं, पर संसार में एक इनका ही ऐसा विलक्षण रोग है, जिसकी सिवाय मौत के और कोई औषधि नहीं। हा हन्त !! जिस देश में एक करोड़ बालविधवायें ऐसा नैराश्य पूर्ण और अन्धकारमय जीवन व्यतीत कर रही हों, क्या उस देश के निवासी कभी सुख की नीन्द सो सकते हैं?

अब प्रश्न यह होता है कि जब पशुपक्षी भी अपनी सन्तान का दुःख नहीं देख सकते, तब भारतवासी और उनमें भी विशेष कर हिन्दू जिनका दया धर्म संसार में प्रसिद्ध है, अपनी पुत्रियों के इस अथाह दुःख पर क्यों ध्यान नहीं देते? ज़रा सा कांटा लग जाता है, उसको भी जब तक निकाल नहीं दिया जाता, चैन नहीं पड़ता, ये तो सांप की तरह हरदम इनकी छाती पर लोटती हैं, फिर भी इनके दुःखनिवारण का कुछ उपाय नहीं किया जाता। इसके उत्तर में हमें कहना पडता है:—

" जिसके पैर फटे न बिवाई । वह क्या जाने पीर पराई ।"

यदि वह दुःख का पहाड़ जो इन अनाथ अबलाओं के सिर पर टूट रहा है, उसका शतांश भार भी हमारे भाइयों के ऊपर पड़ता तो इनको खरे खोटे का सारा भाव मालूम हो जाता, अब इनको मालूम क्या हो, जब कि विवाह इनके लिए एक खेल हो रहा है। दो २ चार २ सन्तानों के होते हुवे यहां तक कि पूर्व पत्नी की विद्यमानता में भी ये एक कन्याकुमारी को जिसकी अवस्था इनकी पुत्री से भी कम है, अपनी पत्नी बना सकते हैं। फिर इनमें यह कैसी अद्भुत शक्ति है कि व्यभिचार से भी इनका धर्म नहीं बिगड़ता। चाहे ये कंचनी को घर में रक्खें या पुंश्चली की पूंछ बन जायें या विधवाओं का सतीत्व नष्ट कर के गर्भपात और भ्रूणहत्या तक कर डालें और फिर भी बेलाग बने रहें। इस दशा में इनको क्या मालूम हो कि विधवाओं पर कैसी और क्या बीत रही है?

वैधव्य का परिणाम ।

विधवाविवाह के विषय में जो निर्मूल आक्षेप किये जाते हैं, उनकी आलोचना हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं। यहां हम संक्षेप से उन अनर्थों और अपराधों का कुछ दिग्दर्शन कराना चाहते हैं, जो विधवाविवाह के न होने से उत्पन्न होते हैं और जिनको वैधव्य का परिणाम कहना चाहिये।

हमारी निर्दयता ।

पहला अनर्थ यह है कि जो हिन्दू पशुपक्षियों पर भी दया करते हैं और उनके कष्ट को नहीं देख सकते, उनके सामने आजीवन उनकी पुत्रियाँ और भगनियाँ सन्तापाग्नि में जलें और वे खुद मरते दम तक संसार के आमोदप्रमोद से मुंह

न मोड़ें, क्या इससे अधिक संसार में और कोई निष्ठुरता और स्वार्थपरायणता का नीच उदाहरण मिल सकता है? जिन आर्यों का आत्मा शत्रु को भी दुरवस्थापन्न देखकर द्रवीभूत हो जाता था, हा!! आज उनकी सन्तान कैसी निष्ठुर और पाषाणहृदय हो गई है कि अपनी सन्तान के अथाह दुःख पर जिस पर अजनबी लोग भी आँसू बहाते हैं, ध्यान नहीं देती। यदि कहो कि उन के भाग्य या कर्म का लिखा हम नहीं मेट सकते तो हम पूछते हैं कि यह भाग्य अमिट संसार में इन्हीं के लिए है या तुम्हारे लिए भी? हम तो तुम्हारा भाग्य को अमिट मानना तब समझते, जब तुम स्त्री के मर जाने पर दूसरा विवाह न करते। भाग्य तो तुम को स्त्री और सन्तान दोनों से वञ्चित रखना चाहता है, पर तुम अपने लिए उस से मरते दम तक युद्ध करते हो। फिर हम कैसे मान लें कि तुम भाग्य को अमिट मानते हो?

एक तो निरपराधों पर अत्याचार और फिर उसका समर्थन करने के लिए यह बहाने बाज़ी! क्या इसी का नाम आस्तिकता है? क्या जिस बात को हम अपने लिए नहीं चाहते, उसको अपनी बहनों और पुत्रियों के लिए चाहना यही हमारी धर्मभीरुता और ईश्वरपरायणता है? जब तक हम इन अनाथ अबलाओं के दुःख पर ध्यान नहीं देंगे और इनके मानुषिक और प्राकृतिक स्वत्वों को निर्दयता के साथ पैरों के नीचे कुचलते रहेंगे, तब तक हिन्दूसमाज के इस बड़े कलङ्क को कि उसकी दया और सहानुभूति केवल पशुपक्षियों तक ही परिमित है, मनुष्य उसकी सीमा से बाहर हैं, कभी नहीं मिटा सकते।

व्यभिचार की वृद्धि।

दूसरा अनर्थ यह है कि बड़े २ घरानों की विधवायें, जब

काम का वेग असह्य हो जाता है, पहले तो गुप्त रीति पर अपनी कामवासना को तृप्त करती रहती हैं। जब उन पर सन्देह होने लगता है, या उनका दोष प्रकट हो जाता है, तब "मरता क्या न करता?" इस किंवदन्ती के अनुसार या तो अपने प्रणयी के साथ भाग जाती हैं, या ईसाई मुसलमानों का आश्रय लेती हैं, या किसी कुटनी के हत्थे चढ़ गईं तो बाज़ारों में बैठकर दोनों कुलों के पितरों को स्वर्ग में पहुँचाती हैं। अब वही हिन्दूसमाज जो अपने नवयुवकों को इनके साथ विवाह करने से रोकता था, अब उनको खुली आज्ञा दे देता है कि वे इन स्वर्ग की अप्सराओं के यहां जाकर अपने पितरों का श्राद्ध और तर्पण करें। आज जो भारत के प्रत्येक नगर में हाट के हाट पुंश्चली और वेश्याओं से भरे पड़े हैं और जहां तहां सैकड़ों गुप्त अड्डे बने हुवे हैं, जिनमें हज़ारों कुटनी और कुटने इसी पापकर्म का व्यवसाय करते हैं, यह सब इसी वैधव्य का ही परिणाम है।

प्रश्न—व्यभिचार का कारण वैधव्य नहीं, किन्तु दुःसङ्ग है, जिसके चक्र में पड़कर बहुत सी सधवायें भी कुलटा बन जाती हैं, अतएव दुःसङ्ग से स्त्रियों को बचाना चाहिये।

उत्तर—माना कि इस दारुण विपत्ति में भी कुछ विधवायें ऐसी निकलेंगी जो अपने प्राणपण से माता पिता के मान मर्यादा की रक्षा करती हैं। इससे क्या हम यह समझलें कि उनको सांसारिक सुख की कामना नहीं रहती, जब आजकल के साधु और सन्त भी इस कामना से मुक्त नहीं, तब क्या भोग विलासों की प्रदर्शिनी में रहती हुईं ये शिक्षा और अनुभवशून्य अबलायें मानसिक वेगों का दमन कर सकती हैं? अतएव लोकापवाद या मातापिता की इच्छा उन्हें गुप्त रीति

पर अपनी वासनाओं को तृप्त करने से नहीं रोक सकते और भला कैसे रोक सकें ? क्या कोई प्राकृतिक वेगों के रोकने में समर्थ हुवा है ? जब बड़े २ देवता ब्रह्मा, विष्णु, इत्यादि और बड़े २ ऋषि विश्वामित्र और पराशर आदि कृत, त्रेता और द्वापर युग में काम के वेग को न रोक सके, तब इस कलियुग में शिक्षा और अनुभवशून्य अबलाओं से यह आशा करना कितनी मूर्खता है ? इस बात को योग्य इंजीनियर ही नहीं साधारण मनुष्य भी जानते हैं कि यदि पानी के निकास का कोई मार्ग न बना कर बन्द बान्धा जायगा तो उसका क्या परिणाम होगा ? इस प्रकार पानी के वेग को रोकने की मूर्खता हम में से कोई नहीं करता, पर काम के दुर्धर्ष वेग को रोकने की मूर्खता हमारा समाज कर रहा है। यदि यह रोक अपने लिए होती तो चाहे इसमें बुद्धिमत्ता न समझी जाती, पर वीरता अवश्य मानी जाती। पर नहीं यह बांध हमने उस अबलाजाति के लिए बांधा है, जिस पर हमारे भाई विना किसी आपत्ति के भी यह अपवाद लगाया करते हैं।

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ।। (१)

अस्तु, जब हम अपने लिए उन नियमों की कुछ परवा नहीं करते जिनका पालन विधवाओं से कराना चाहते हैं, तब हमारा यह विषमाचार ही उनकी आंखें खोल देता है और उनको दुष्कर्म में साहस होने लगता है, फिर दबाने या भय दिखाने से भी उनका बचना कठिन हो जाता है। इतने पर भी

(१) ये स्त्रियां रूप की परीक्षा नहीं करतीं, न आयु को देखती हैं, सुरूप हो या कुरूप, पुरुष को भोगती हैं।

जो विधवायें सब कष्टों को सहती हुईं और प्राकृतिक वेगों को रोकती हुईं दुष्कर्मों से अपने को बचाती हैं, वे निःसन्देह देवता हैं और जगत् की वन्दनीया हैं। परन्तु हज़ारों में दस बीस ऐसी हुईं भी तो क्या वे उस व्यभिचार के प्रवाह को (जो वैधव्य के स्रोत से निकलता है) रोकने में समर्थ हो सकती हैं? जब वैधव्य उनकी चिरोषित वासनाओं पर आघात करता है, तब क्यों न उसको उनकी दुष्प्रवृत्ति का कारण माना जाय?

गर्भपात और भ्रूणहत्या ।

यह वह अनर्थ है, जिसको स्मरण करके शरीर में रोमाञ्च होता है। जिस देश में हज़ारों ईश्वर के पुत्र गर्भ में उत्पन्न होते ही समाप्त कर दिये जांय, वह बालघाती देश क्या कभी भद्र या स्वस्ति का मुंह देख सकता है? एक पाप को छिपाने के लिए दूसरा महापाप करना, एक व्यक्ति या कुल की झूंठी नाक रखने के लिए सारे समाज की नाक कटाना इसी का नाम है। पर पाप कभी पाप को रोक सकता है? इससे बड़े २ ख़ान्दानों की रही सही प्रतिष्ठा भी ख़ाक में मिल जाती है। रुपये के ज़ोर से चाहे वे इसका क़ानूनी प्रभाव अपने ऊपर न पड़ने दें, पर जिस नाक को बचाने के लिए ये महापाप किये जाते हैं, वह तो जड़ से कट जाती है और व्यभिचार जो अब तक छिप २ कर होता था, अब खुल्लम खुल्ला होने लगता है।

हमारे देश के फ़ौजदारी अदालतों के दफ़तर ऐसी मिसलों से भरे पड़े हैं, जिनमें सैकड़ों उच्च कुल की विधवायें गर्भपात, भ्रूणहत्या और आत्मघात आदि अपराधों में अभियुक्त होकर न्यायालयों से दण्डित हुई हैं। हम यहां पर सिर्फ़ एक फ़ैसले की नक़ल जो बम्बई हाईकोर्ट में आनरेबिल जस्टिस वेस्ट ने

२५ मई सन् १८८१ ई० को, मुसम्मात विजयलक्ष्मी विधवा उम्र २० वर्ष क़ौम ब्राह्मणी के अपील पर (जिसने अपने जारज पुत्र को गला घोट कर मार डाला था) सादिर फरमाया था, उद्धृत करते हैं। जस्टिस महोदय अपने फ़ैसले में लिखते हैं :—

"वे लोग जिनकी जाति में व्यभिचार बहुत बुरा समझा जाता है और वे विधवाओं को पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं देते, बड़ी भूल करते हैं। जातीय हित को लक्ष्य में रख कर समाज को निष्पक्ष भाव से सोचना चाहिये कि किसी युवा व्यक्ति को (चाहे वह स्त्री हो वा पुरुष) विवाह से रोकना उसे व्यभिचार की प्रवृत्ति दिलाना है। जिन जातियों में विधवाविवाह का प्रचार नहीं है, यदि कोई आपत्ति न हो तो समाज को उन पर दबाव डालना चाहिये और सामाजिक हित के लिए इस अनुचित रुकावट को जिससे धर्म और क़ानून के विरुद्ध अनर्थ और अपराध उत्पन्न होते हैं, दूर करना चाहिये।"

"यह अभियोग इस प्रकार के अन्य अभियोगों का अपवाद नहीं है, इसलिए न्यायालय की दृष्टि में यह आवश्यक नहीं है कि क़ानून का सबसे अन्तिम दण्ड अपराधी को दिया जाय। क्योंकि न्यायालय की दृष्टि में भ्रूणहत्या का अपराध ऐसा असाधारण नहीं हुवा है कि प्रत्येक दशा में जहां स्त्री अपराधिनी हो, मृत्युदण्ड आवश्यक समझा जाय। परन्तु इसके साथ ही यह अभियोग ऐसा भी नहीं है कि गवर्नमेंट से इस की सुफारिश की जाय। अतएव यह न्यायालय आज्ञा देता है कि अपराध जो मातहत अदालत ने लगाया है बहाल रक्खा जाय, पर फांसी के बजाय आजीवन काले पानी की सज़ा अपराधी को दी जाय।"

पाठक ! ऐसे २ सैकड़ों अभियोग आये दिन फ़ौजदारी अदालतों में होते रहते हैं, जिनमें विधवायें तो अपने किये का फल पाती ही हैं, पर उनके संरक्षकों और सम्बन्धियों की जो दुर्गति और मिट्टी पलीद होती है, उसके लिखने में लेखनी असमर्थ है। अब प्रश्न यह है कि गवर्नमेन्ट के क़ानून में चाहे इन अपराधों के करनेवाले और उनमें सहयोग देनेवाले ही दोषी हों, पर उस अन्तर्यामी न्यायकारी यमराज के क़ानून में क्या उस समाज पर इन अनर्थों और अपराधों का दायित्व न होगा, जो बलात् मनुष्यों के प्राकृतिक वेगों को रोक कर उनको पापी और अपराधी बनने का अवसर देता है ? आज जो हिन्दूजाति संसार में नहीं किन्तु अपने ही देश में और अपने ही भाइयों से तिरस्कृत और अपमानित हो रही है और धड़ाधड़ दूसरी जातियों का शिकार बन रही है, क्या यह ईश्वर की ओर से इसी पाप कर्म का समुचित दण्ड नहीं है ?

कुमारी कन्याओं पर अत्याचार ।

चौथा अनर्थ जो इस वैधव्य के कारण हिन्दूसमाज में हो रहा है, कुमारी कन्याओं पर अत्याचार है। विधवाविवाह के न होने से चालीस २ और पचास२ वर्ष के बूढ़े पुरुष आठ आठ या दस २ वर्ष की कुमारी कन्याओं के साथ जो देखने में उनकी पुत्री और पौत्री के समान लगती हैं, विवाह करते हैं। इसका परिणाम यह होता है. उधर तो जो विधवायें समाज में मौजूद थीं, वे ज्यों को त्यों बनी रहीं, इधर यह दूसरी खेप और तयार करने का उपक्रम किया जाता है। इससे विधवाओं की संख्या बढ़ने के अतिरिक्त दूसरा अनर्थ जो होता है, वह कुमारी कन्याओं पर अत्याचार है। दुहेजिये नहीं, किन्तु तिहेजिये और चौहेजियों का घर बसाने के लिए भी इन निरपराध

बालिकाओं की बलि चढ़ाई जाती है। यदि विधवाविवाह प्रचलित होता तो भारतीय कन्याओं की यह दुर्दशा क्यों होती? इसके अतिरिक्त कन्याविक्रय की जघन्य रीति भी विधवावि-वाह न होने के कारण ही इस देश में फैली है। निर्धन गृहस्थ, जिनकी इस देश में कमी नहीं है, धन के लोभ से अपनी कन्याओं को बूढ़े और रोगी धनवानों के हाथ बेच देते हैं। यदि विधवाविवाह प्रचलित होता तो क्यों ऐसे २ अनर्थ और पाप होते?

आजीविका का अभाव।

पांचवां अनर्थ जीविका का अभाव है, जो इच्छा न होते हुवे भी विधवाओं को पापकर्म की ओर प्रेरित करता है। सब जानते हैं कि भूखा मनुष्य न तो भजन ही कर सकता है और न उससे किसी मर्यादा का ही पालन हो सकता है। क्या आठ आठ या दस २ वर्ष की बालविधवायें, जिनको न कोई शिक्षा दी गई है और न कोई हुनर सिखाया गया है, बिना दूसरे की सहायता या आश्रय के किस प्रकार अपना जीवन निर्वाह कर सकती हैं? यदि कहो कि मातापिता उनका भरणपोषण करेंगे, तो प्रश्न यह है कि जिनके मातापिता न हों या हों भी तो इस काम के अयोग्य हों, बतलाइये वह क्या करें और किस प्रकार अपनी उदरज्वाला को शान्त करें?

हा हन्त! हिन्दू विधवा की कैसी शोचनीय दशा है। इधर क्षुधा और दीनता उसे अपना भयानक रूप दिखा रही है, उधर संसार के प्रलोभन और उत्तेजन उसे अपनी ओर खींच रहे हैं। एक ओर इतना अत्याचार सहते हुवे भी समाज में अपना अपमान और तिरस्कार उसे उस निर्दय समाज से बदला लेने के लिए उकसा रहा है। दूसरी ओर गुण्डे और

पापी पुरुष स्वयं पतित होने के लिए नहीं, किन्तु उसे पतित करने के लिए अर्थात् लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट करने के लिए नये नये जाल बिछाये बैठे हैं । इन विषमावस्थाओं में यदि विधवायें अपने धर्म पर आरूढ़ रहें तो इसका आश्चर्य्य होना चाहिये, न कि उनके पतित होने का । अस्तु और सब आपत्तियों का एक दृढ़चित्त मनुष्य जैसे तैसे मुकाबिला कर सकता है, पर वह पेट को किसी दशा में जवाब नहीं देसकता । इस पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए माताओं ने अपने दूध पीते बच्चों को अपनी छाती से अलग कर दिया है, पुत्रों ने अपने बूढ़े माता पिताओं को घर से निकाल दिया है । अतएव भर्त्ता के अभाव में पेट की चिन्ता यदि विधवाओं को कुमार्ग गामिनी बना देवे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? "बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?"

ईश्वरीय नियम की अवज्ञा ।

छठा अनर्थ यह है कि इससे ईश्वरीय नियम की अवज्ञा होती है । ईश्वर ने स्त्री और पुरुष दोनों को एक ही उद्देश के लिए बनाया है । ये दोनों मिलकर ही सृष्टि का उद्देश पूरा कर सकते हैं । यदि इनमें से एक भी दूसरे की उपेक्षा करे तो आज ही इस सृष्टि का उच्छेद होजाय । केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही इन दोनों का संयोग आवश्यक नहीं है, किन्तु उस गृहस्थाश्रम को भी जिसका महत्व हिन्दू शास्त्रों में सर्वोपरि माना गया है, जीवित रखने के लिए इनका परस्पर मिलकर रहना अनिवार्य है । मनु कहता है :—

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टा सन्तानार्थं च मानवाः ।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥(१)

---

(१) जनने के लिए स्त्रियां और सन्तान के लिए पुरुष बनाये गये ।

जब श्रुति के संकेत से मनु यह लिखता है कि पत्नी के साथ ही पुरुष गृहस्थधर्म का पालन कर सकता है, अन्यथा नहीं, तब विधवाओं को पत्नी बनने से रोकना गृहस्थधर्म का उच्छेद करना नहीं तो और क्या है? ईश्वर ने उनको सन्तान उत्पन्न करने और गृहस्थ धर्म का पालन करने के लिए उत्पन्न किया था, पर हम उनको प्रसवशक्ति रखते हुवे बन्ध्या और पत्नी बनने की योग्यता रखते हुवे सदा के लिए विधवा बना देते हैं। इससे अधिक ईश्वरीय नियम की और क्या अवज्ञा हो सकती है? यदि इन अर्ध कोटि बालविधवाओं के अनुरूप वरों के साथ नियमानुसार विवाह हो जाते तो न मालूम आज इनसे कितने अर्जुन और अभिमन्यु उत्पन्न होकर इस पतनोन्मुख हिन्दूजाति के बल और प्रभाव को बढ़ाते और कितने गृहस्थ जो आज इनके विलाप और क्रन्दन से या दुराचार और पापजीवन से नरक का दृश्य उपस्थित कर रहे हैं, स्वर्ग और शान्ति के धाम बनकर हिन्दूजाति के सुख, प्रताप और गौरव की वृद्धि करते, इसकी संख्या कौन कर सकता है?

अन्तिम निवेदन ।

उपसंहार में अब हम अपने देशबान्धवों से सविनय निवेदन करते हैं, कि यह कोई धर्मसम्बन्धी विवाद नहीं है जिस पर हिन्दू, जैन, आर्य, ब्राह्म, बौद्ध और सिक्ख आदि सम्प्रदायों का मतभेद हो। यह उस दुखड़े का रोना है, जिसको स्मरण करके आस्तिक तो एक ओर नास्तिकों का भी हृदय विदीर्ण होता है। यही दारुण दुःख है जो सर्व सम्पत्ति के होते हुवे भी आज हमको आठ २ आंसू रुला रहा है, इसी कलङ्क ने आज हमको संसार की सभ्य और शिक्षित जातियों

इसीलिए श्रुति में स्त्री के साथ ही पुरुष का साधारण धर्म कहा गया है।

में कलङ्कित किया है और यही निष्ठुरता है, जो आज हमको मनुष्य होते हुवे भी पाषाणहृदय बना रही है ।

प्रिय बांधवो ! ईश्वर के लिए और अपने पवित्र धर्म के लिए अब आप इस धब्बे को अपने अञ्चल से धो डालिये। संसार में कोई ऐसा धर्म नहीं हैं, जिसकी महिमा दीनों पर दया करने और दुखियों का दुःख दूर करने से न बढ़ी हो। इन अनाथ बालविधवाओं का इस भयानक दशा से जिस में पड़ी हुई ये रातदिन बिना अग्नि के जल रही हैं, उद्धार करना हमारा और आप का ही काम है। यदि हमारे शत्रु भी इस अप्राकृतिक दशा में पतित होते तो आर्यसन्तान होते हुवे इससे उनका उद्धार करना हमारा कर्त्तव्य था, ये तो हमारी इच्छा और आज्ञा के आगे सिर झुकानेवाली ही नहीं, किन्तु उसका पालन करने में मर मिटने वाली हमारी पुत्रियां और भगिनियां है क्या इनके दुःखपर हम ध्यान न देंगे ?

अबतक हमने प्रमाद से अपने इस कर्त्तव्य की उपेक्षा की, पर अब इस प्रकाश के युग में बहुत दिन तक हम इनको इनके मानुषिक स्वत्वों से वञ्चित नहीं रख सकते। यदि हम इनके मनुष्योचित अधिकार इनको प्रदान नहीं करेंगे तो ये स्वयं उनको प्राप्त करने की चेष्टा करेंगी। क्या अच्छा हो कि हम इनकी मांग से पहले ही इनके अधिकार इनको प्रदान करदें। अधिकार तो दोनों दशाओं में (चाहे हम दें और चाहे ये लें) इनको मिलेंगे ही, पर अन्तर केवल इतना है कि पहली दशा में हम यशोभागी सेंत मेंत में बन जायेंगे और पिछला कलङ्क भी हमारा धुल जायगा। दूसरी दशा में अपने अधिकारों को प्राप्त करने का सारा श्रेय इन्हीं को मिलेगा और हमको इनके सम्मुख लज्जित होना पड़ेगा ।

विधवाओं की संख्या ।

हम यहां पर सन् १९२१ की मनुष्य गणना की रिपोर्ट से भारतीय विधवाओं की संख्या उद्धृत करते हैं :—

संपूर्ण भारत में जिसमें बृटिश भारत और देशी राज्य दोनों शामिल हैं, कुल स्त्रियों की संख्या १५,४९,४६,९२६ है, जिसमें २,६८,३४,८३८ विधवायें हैं, जो कुल संख्या का पञ्च-मांश के लगभग है। इनका हिसाब प्रान्तवार इस प्रकार है:-

प्रान्त	स्त्रियां	विधवायें
मद्रास	२,१४,४८,२३६	४०,४६,८१२
बंगाल	२,३३,९१,५८८	४४,४४,०५०
संयुक्तप्रान्त	२,२४,३५,३१६	३९,४७,८४२
बम्बई	९१,७१,२५०	१६,८१,८४९
पंजाब	९३,७८,७५९	१२,३७,७०५
बर्मा	६४,५५,२२३	७,३१,६३९
बिहार-उड़ीसा	१,७२,३८,३२३	३२,११,३१०
मध्यप्रान्त	६९,६७,३६१	११,५५,८९२
आसाम	३६,४५,१२१	५,७३,३०१
देशीराज्य	३,४८,१५,७४९	५८,०४,३३८
टोटल	१५,४९,४६,९२६	२,६८,३४,८३८

अवस्था के अनुसार विधवाओं की संख्या ।

आयु	संख्या
१—१२ मास	६१२
१— २ वर्ष	४९

आयु	संख्या
२—३ ,,	१,२८०
३—४ ,,	५,८६३
४—५ ,,	६,७५८
५—१० ,,	१,०२,२२९
१०—१५ ,,	२,७९,१२४
१५—२० ,,	५,१७,८९८
२०—२५ ,,	९,६६,६१७
२५—३० ,,	१५,१६,०४७
३०—३५ ,,	२३,५४,१२२
३५—४० ,,	२२,३२,५६९
योग	७९,८३,१६८

इन ८० लाख बाल और युवती विधवाओं का ताप, शाप और पाप ही भारत को भस्मीभूत कर रहा है। जब तक भारतमाता के पुत्र इसकी पुत्रियों और अपनी बहनों के साथ मानवोचित बर्त्ताव न करेंगे, उनका स्वराज्य और पूर्ण स्वातन्त्र्य के प्रस्ताव पास करना जगत् में अपना उपहास कराना है।

परिशिष्ट ।

अर्वाचीन विद्वानों की सम्मतियां ।

विधवा विवाह के विषय में प्राचीन ऋषियों और विद्वानों की सम्मति पहले और दूसरे अध्यायों में हम सप्रमाण उद्धृत कर चुके हैं। अब इस परिशिष्ट प्रकरण में हम कुछ ऐसे अर्वाचीन विद्वानों का परिचय विज्ञ पाठकों को देना चाहते हैं, जिन्होंने प्रस्तुत विषय में अपनी स्वतन्त्र और स्पष्ट सम्मति प्रदान कर के अपने नैतिक बल का परिचय दिया है।

१—मित्रमिश्र ।

ये विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में हुवे हैं। इनका बनाया "वीरमित्रोदय" ग्रन्थ, जिसमें धर्मशास्त्र के अनेक गहन विषयों का बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया गया है, शिलायन्त्र का छपा "भारतीभवन" प्रयाग में मौजूद है। इन्होंने इस ग्रन्थ के अधिवेदन प्रकरण में ऐतरेय ब्राह्मण की "एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतयः" इस श्रुति की व्याख्या करते हुवे स्पष्ट पत्यन्तर का विधान किया है; जिसको हम पहले अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं।

२—नीलकण्ठ मिश्र ।

ये विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में हुवे हैं, इन्होंने महाभारत जैसे विस्तृत ग्रंथ की संस्कृत में टीका की है। इन्होंने भी महाभारत के आदिपर्व में उक्त श्रुति की प्रतीक देकर स्पष्ट पत्यन्तर का विधान किया है जिसका उल्लेख पहले अध्याय में हो चुका है।

३—सर्वज्ञनारायण, ४—नन्दन, ५—राघवानन्द ।

ये तीनों विद्वान् विक्रम की बारहवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी तक हुवे हैं ये तीनों मनुस्मृति के टीकाकार हैं। इन तीनों ने मनु के "सा चेदक्षतयोनिः स्यात्०" इस पद्य के भाष्य में 'अक्षतयोनि' विधवा

के विवाह की पुष्टि की है। राघवानन्द ने तो 'वा' अव्यय से 'क्षतयोनि' का भी विवाह सिद्ध किया है, जैसा कि हम पहले अध्याय में दिखला चुके हैं।

६—नन्दपण्डित ।

तीन सौ वर्ष हुवे काशी में इन्होंने जन्म लिया था, इनका बनाया 'दत्तकमीमांसा' ग्रंथ प्रसिद्ध है। इन्होंने 'विष्णु' स्मृति की टीका भी की है, जिसका नाम 'केशव वैजयन्ती' है। उसमें इन्होंने "अक्षताभूयः संस्कृता पुनर्भूः" (१) विष्णुस्मृति के इस मूल की व्याख्या करते हुवे अक्षता विधवा का पुनःसंस्कार के योग्य होना सिद्ध किया है।

७—वाचस्पति मिश्र ।

ये महाशय सोलहवीं शताब्दी में मैथिलदेश में संस्कृत के अन्यतम विद्वान् हुवे हैं। इनके बनाये 'विवादचिन्तामणि' और 'व्यवहारचिन्तामणि' ये दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनका मिथिला में बड़ा आदर है। विवाद चिन्तामणि में ये लिखते हैं—"पौनर्भवः षष्ठः सच पुनर्वोढु सुतः" (२)।

इस से सिद्ध है कि वाचस्पति मिश्र पौनर्भव को पुनर्वोढा का पुत्र मानते हैं। यदि उनकी दृष्टि में 'विधवाविवाह' अयुक्त होता तो उसकी संतान को वे पुनर्वोढा का पुत्र कदापि न लिखते, क्योंकि जारज संतान किसी की पुत्र या उत्तराधिकारी नहीं हो सकती।

८—मथुमिश्र ।

ये महोदय भी ३०० वर्ष हुवे पूर्वीय वंगदेश में संस्कृत के भारी विद्वान् हुवे हैं, इनका बनाया 'विवादचन्द्र' नाम ग्रन्थ प्रसिद्ध है उसमें ये लिखते हैं :—

"पुनः सवर्णेनोढायां तज्जातः पौनर्भवः" (३)

---

(१) अक्षता पुनःसंस्कार की हुई 'पुनर्भू' है।

(२) पौनर्भव छठा है और पुनर्वोढा का पुत्र है।

(३) जो फिर सवर्ण से ब्याही गई हो, उसका पुत्र पौनर्भव है।

विधवाविवाह के लिए सवर्ण की शर्त लगाना ही सिद्ध कर रहा है कि ये इसको वैध मानते हैं, अन्यथा अवैध के लिए सवर्ण के बन्धन की क्या आवश्यकता थी ?

९—नीलकण्ठभट्ट ।

ये सत्रहवीं शताब्दी में दक्षिण में प्रसिद्ध विद्वान् हुवे हैं, इनका बनाया 'व्यवहारमयूख' नामक ग्रन्थ महाराष्ट्रदेश में मिताक्षरा के समान माना जाता है । ये महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ मिश्र से भिन्न हैं । इन्होंने अन्तिम अवस्था में काशीवास स्वीकार किया था । ये व्यवहारमयूख में लिखते हैं :—

अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः । (१)

अक्षतायां पूर्ववोढा अभुक्तायां क्षतायां तेन भुक्तायां वा वोढान्तरेणोत्पन्नः पौनर्भवः ।"

इससे सिद्ध है कि नीलकण्ठ भट्ट याज्ञवल्क्य के समान क्षता और अक्षता दोनों के विवाह को वैध मानते हैं, अन्यथा वोढान्तर से वे पुत्रोत्पत्ति का वर्णन न करते ।

१०—पं० रघुनन्दन भट्टाचार्य ।

ये प्रसिद्ध विद्वान् पिछली शताब्दी में बंगाल में हुवे हैं । इन का बनाया स्मृतितत्त्व ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध और पाण्डित्यपूर्ण है, जिसमें धार्मिक विषयों की बड़ी ही मार्मिक विवेचना की गई है । इसी का एक भाग "उद्वाहतत्त्व" भी है, जिसके कुछ प्रमाण हमने इस पुस्तक में कहीं २ पर उद्धृत किए हैं । इसी विद्वान् के विषय में आनरेबिल मिस्टर ग्रान्ट ने सन् १८५६ ई० में विधवाविवाह का बिल प्रस्तुत करते हुवे गवर्नर जनरल की कौन्सिल में कहा था कि "बङ्गाल के प्रसिद्ध विद्वान् 'स्मृतितत्त्व' के प्रणेता पं० रघुनन्दन भट्टाचार्य ने अपनी पुत्री का पुनर्विवाह करना चाहा था, पर सजातीयों के विरोध से वह अपने उद्योग में कृतकार्य नहीं हुवा ।" ये महाशय 'स्मृतितत्त्व' में लिखते हैं :—

(१) अक्षता वा क्षता में उत्पन्न पौनर्भव है ।

क्षतयोन्या अपि संस्कारमाह याज्ञवल्क्यः—
"अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः।"(१)

इस अवतरण में पं० रघुनन्दन भट्टाचार्य ने याज्ञवल्क्य का प्रमाण उद्धृत करते हुवे क्षता और अक्षता दोनों के पुनर्विवाह में अपनी सम्मति प्रकट की है।

११—पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर।

ये महाशय बंगाल में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् हुवे हैं। हिन्दूधर्म पर इनका जैसा विश्वास था, आजकल के शिक्षितों में होना कठिन है। इनका जन्म सन् १८२० ई० में हुवा था, ये निर्धन मातापिता के पुत्र थे। अपनी व्यक्तिगत योग्यता के कारण ही ये शिक्षाविभाग में उन्नति करते करते इन्सपेक्टर के उच्चपद पर पहुंच गये।

आधुनिक हिन्दूसमाज में सबसे पहला यही धर्मात्मा पुरुष हुवा, जिसने तमाम हिन्दूशास्त्रों का मथन करके विधवाविवाह को धर्मशास्त्र के अनुकूल सिद्ध किया। इन्होंने विधवाविवाह के समर्थन में बंगभाषा में एक विस्तृत और पाण्डित्यपूर्ण पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और तर्क से विधवाविवाह का वैध होना सिद्ध किया। इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही हिन्दू समाज में युगान्तर उपस्थित होगया। बंगाल और काशी के कुछ पण्डितों ने उसके प्रतिवाद भी छपवाये, पर इस महारथी ने अकेले ही उन सब के प्रहारों को निष्फल करदिया, फिर किसी को साहस न हुवा कि इनके अकाट्य युक्ति और प्रमाणों का खण्डन कर सके। इन्होंने सैकड़ों ही उच्च कुलों में विधवाविवाह कराये और अपने पास से बहुत कुछ यौतुक प्रदान किया। सन् १८५६ ई० का सरकारी एक्ट, जिसमें विधवाविवाह को क़ानून में वैध ठहराया गया है, इसी महात्मा के उद्योग का फल है। इस दया के अवतार ने जिसका नाम विधवाविवाह के इतिहास में सदा अमर रहेगा सन् १८९१ ई० में ७१ वर्ष की आयु में अपनी मानवलीला संवरण की।

---

(१) याज्ञवल्क्य क्षतयोनि का भी संस्कार कहता है।

इस भारतजननी के सुपुत्र ने केवल धार्मिक वीरता ही नहीं दिखाई, किन्तु अपने पुत्र नारायण का एक विधवा के साथ विवाह करके "मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्"(१) इस उक्ति को सार्थक बनाकर अपने नैतिकबल का जनता को परिचय भी दे दिया। इस विवाह के सम्बन्ध में विद्यासागर ने अपने लघुभ्राता पं० शम्भुचन्द्र विद्यारत्न को जो पत्र लिखा था, उसकी नकल हम यहां पर देते हैं।

शुभाशिषः सन्तु।

माताजी प्रभृति को इस शुभ संवाद की सूचना देना कि २७ सावन बृहस्पतिवार को भवसुन्दरी के साथ नारायण का विवाह हो गया।

इसके पहले तुमने लिखा था कि नारायण यदि यह विवाह करेगा तो हम लोगों के कुटुम्ब के लोग आहार व्यवहार छोड़ देंगे, अतएव नारायण का यह विवाह रोकना आवश्यक है। इस विषय में मेरा वक्तव्य यह है कि नारायण ने अपनी इच्छा से यह विवाह किया है, इसमें मेरी इच्छा या अनुरोध से कोई काम नहीं हुआ। जब मैंने सुना कि उसने विवाह पक्का कर लिया है और कन्या भी यह चाहती है, तब उस मामले में सम्मति न देकर रुकावट डालना मेरे लिए किसी प्रकार उचित न होता। मैं विधवाविवाह का प्रवर्तक हूं। हम लोगों ने उद्योग करके अनेक विधवाओं के विवाह कराये हैं। ऐसी अवस्था में मेरा पुत्र यदि विधवा के साथ विवाह न करके कुमारी के साथ विवाह करता तो मैं लोगों को मुंह न दिखा सकता, भद्रसमाज के लोग मुझे बिलकुल अश्रद्धेय और हेय समझते। नारायण ने स्वयं प्रवृत्त होकर यह विवाह किया है, इससे मेरा मुंह उजियाला हो गया। उसने लोगों के निकट यह कह कर अपना परिचय देने का द्वार खोल दिया है कि मैं विद्यासागर का पुत्र हूं।

विधवाविवाह जारी करना मेरे जीवन का सबसे बढ़कर सत्कर्म है, इस जन्म में इससे बढ़कर शुभकर्म होने की मुझे संभावना नहीं है। इसके लिए मैंने सर्वस्व अर्पण कर दिया है और आवश्यक होने पर प्राण देने में भी मुझे संकोच न होगा। इसके लिए कुटुम्बियों को छोड़ देना

---

(१) महात्माओं के मन, वचन और कर्म में एक ही बात होती है।

एक मामूली बात है। कुटुम्बियों के खानपान छोड़ देने के भय से यदि मैं पुत्र को उसके अभीष्ट विधवाविवाह से निवृत्त करता तो मुझसे बढ़कर नराधम और कौन होता ? अधिक क्या कहूं, उसने स्वतः प्रवृत्त होकर यह विवाह किया है, इससे मैं अपने को कृतार्थ समझता हूं । मैं देशाचार का गुलाम नहीं हूं। अपने या समाज के कल्याण के लिए जो उचित या आवश्यक जान पड़ेगा, वह करूंगा । इसके करने में संसार या कुटुम्ब के लोगों का मुझे कुछ भी भय न होगा ।

शुभाकाङ्क्षी—श्री ईश्वरचन्द्र शर्मा ।

धन्य हो, वीरात्मन् ! तुम्हीं जैसे सपूतों से यह भारतजननी अब तक वीरसू कहलाती है। तुमने ब्राह्मणजाति और सनातनधर्म के इस अपवाद को कि यह सुधारविद्वेषी हैं, आज से ७५ वर्ष पूर्व ही प्रक्षालन कर दिया था । इसी महापुरुष के विषय में आनरेबिल सर गुरुदास बनर्जी जज हाईकोर्ट बङ्गाल अपने टगोर ला लेकचर में लिखते हैं :—

"पण्डित विद्यासागर ने जिनका नाम वैधव्य को उठा देने के लिए संसार में सदा अमर रहेगा, अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में सिद्ध किया है कि विधवाओं का पुनर्विवाह शास्त्रानुसार वैध है। उक्त पण्डित की इस सम्मति को देश का अधिकांश शिक्षितवर्ग स्वीकार करता है । सरकार ने भी उसपर ध्यान देकर १८५६ ई० में विधवाविवाह एक्ट १५ भारतीय कौंसिल में पास कर दिया है । (टगोर ला लेकचर सन् १८७८ पृ० २५०) ।

महामहोपाध्याय पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न ।

ये बंगाल में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् हुये हैं । धर्मशास्त्र, न्याय, व्याकरण और साहित्य आदि विषयों में इन्होंने कई मार्मिक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका विद्वत्समाज में बड़ा आदर है। इनकी योग्यता पर ही मुग्ध होकर बंगाल सरकार ने इनको संस्कृत कालिज का प्रिन्सिपिल बनाया था । विद्यासागर पर इनकी बड़ी भक्ति थी और ये गुरुवत् उनका आदर करते थे। जब विद्यासागर की प्रसिद्ध पुस्तक के प्रतिवाद में प० मधुसूदन स्मृतिरत्न ने, जो इनके मित्रों में से थे, एक लेख प्रकाशित किया, तब इन्होंने स्मृतिरत्न

महाशय को उनके प्रतिवाद के उत्तर में एक कड़ा पत्र लिखा, जिसकी कुछ पंक्तियाँ हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं :—

"आपने जो स्मृतिशास्त्र की आलोचना करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि पूर्वकाल में यहाँ विधवाविवाह शास्त्रोक्त नहीं था, यह बात मेरी समझ में नहीं आई। आपने अपने आशय को सिद्ध करने के लिए कतिपय शास्त्रवचनों का सहारा लिया है और खींचतान कर उनके अर्थ को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। यह शैली आप जैसे विद्वानों के अनुकरण योग्य नहीं है। जो मनुष्य जानबूझकर शास्त्र के अभिप्राय को अन्यथा प्रकट करता है, वह जनता को धोखा देता है और उसके विश्वास से अनुचित लाभ उठाता है। विद्वान् लोग कभी इस शैली का आदर नहीं करते। आपने अनेक स्मृतिग्रंथों का परिशीलन किया है, ज़रा बतलाइये तो सही कि किस स्मृतिकार ने लिखा है कि विधवाविवाह पूर्वकाल में शास्त्रसिद्ध नहीं था। जिस ग्रन्थ को आप प्रमाण कोटि में मान चुके हैं जब उसका कोई वाक्य आपके विरुद्ध आकर पड़ता है तो आप उसको अप्रमाण कहने लगते हैं, या उसकी उपेक्षा करते हैं। यह कहाँ का न्याय है ?"

२३—सर गुरुदास बनर्जी।

विद्यासागर के समान इनका भी हिन्दूधर्म पर अचल विश्वास था। इनकी कानूनी योग्यता इनके टगोर ला लेकचरों से जो इन्होंने कई वर्ष तक लगातार दिये हैं, प्रकट है। शोक कि इस धर्मात्मा विद्वान् का सन् १८१८ ई० में देहावसान हो गया। इन्होंने विद्यासागर और विधवाविवाह के विषय में जो सम्मति दी है, उसको हम उद्धृत कर चुके हैं। यहाँ पर हम इनकी उस सम्मति को भी जो अयोग्य विवाहों के सम्बन्ध में इन्होंने प्रकट की है, उद्धृत करते हैं :—

"उन हिन्दू स्त्रियों की दशा जिनका विवाह आरम्भ में कुछ भूल हो जाने के कारण शास्त्र से अनुचित ठहराया जाता है, बड़ी ही शोचनीय है। वह भूल जिसके कारण विवाह धर्मशास्त्र से अनुचित ठहराया जाता है, दो प्रकार की है :—

१—जातिभेद जो विवाह के पश्चात् जाना जावे ।

२—सगोत्र या सपिण्ड में विवाहसम्बन्ध का होना ।

पहली दशा में किन्हीं २ शास्त्रकारों ने यदि वर और वधू का भिन्न २ जाति होना गर्भाधानसंस्कार से प्रथम विदित होजाय तो कन्या को पुनःसंस्कार करने की आज्ञा दी है । पर गर्भाधान के पश्चात् विदित होने से वह पुनःसंस्कार के योग्य नहीं समझी जाती, पति को अधिकार है कि वह उसे त्याग दे । दूसरी दशा में अर्थात् यह ज्ञात होने पर कि सगोत्र या सपिण्ड में विवाह हुवा है, पति के साथ समागम न होने पर भी स्त्री को पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं, पति उसके योगक्षेम की व्यवस्था करके उसे त्याग दे ।

बालविधवा को इतना तो सन्तोष है कि उसके पति की मौत को रोकना मनुष्य की शक्ति के बाहर था, परन्तु मातापिता की ज़रा सी भूल के कारण जो कन्या ऐसी निष्ठुरता से त्याग दी जाय और जन्म भर के लिए विधवा बना दी जाय, उसकी दशा वास्तव में बड़ी ही शोचनीय है । ऐसी दशा में जहां स्त्री को समागम से पहले पति ने त्याग दिया हो, उचित और न्यायसंगत यही है कि उसे पुनर्विवाह की आज्ञा दी जाय और यह बात धर्मशास्त्र के भी विरुद्ध नहीं है । क्योंकि नारद और बृहस्पति दोनों शास्त्रकारों ने ऐसे दान को जो भूल, प्रमाद या अज्ञता से किया जाय, अनुचित और अदत्त माना है । इसके अतिरिक्त आनरेबिल जस्टिस नारमन चीफ़ जस्टिस बंगाल हाईकोर्ट ने भी अंजना दासी के अभियोग में जो प्रह्लादचन्द्र घोष के नाम था, अपनी व्यवस्था में इसका अनुमोदन किया है ।"

(देखो टगोर ला लेकचर सन् १८७८ पृ० १२०–१२१)

१४—बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जी ।

ये महाशय पिछली शताब्दी में बंगसाहित्य के सम्राट् हुवे हैं । बंगसाहित्य ने जो आज भारत की प्रान्तीय भाषाओं में सर्वोच्च स्थान लाभ किया है, वह इन्हीं के उद्योग का फल है । यद्यपि उसको सींचनेवाले और

भी दत्त मित्र आदि बंगाली वीर हुवे, तथापि उसका बीजारोपण करने वाले और उसके प्रवाह को सामयिकता की ओर झुका कर इस उन्नत दशा में पहुंचानेवाले वही महाशय हुवे हैं। प्रस्तुत विषय में बंगदर्शन से हम इनकी सम्मति उद्धृत करते हैं :—

"पुरुष पत्नीवियोग के बाद फिर विवाह करने का अधिकारी है तो साम्यनीति के अनुसार स्त्री भी पतिवियोग के बाद पुनर्विवाह करने की अधिकारिणी है। यहां पर प्रश्न हो सकता है कि यदि पुरुष पुनर्विवाह का अधिकारी है, तभी तो स्त्री भी अधिकारिणी है, तो क्या पुरुषों को पुनर्विवाह करना उचित है? उचित है या अनुचित हम इस विवाद में पड़ना नहीं चाहते। हमारी सम्मति में मनुष्यमात्र को यह अधिकार है कि जिसमें दूसरे का अनिष्ट न होता हो, ऐसे प्रत्येक कार्य को वह प्रवृत्ति के अनुसार कर सकता है। अतएव पत्नीवियोगी पति अथवा पतिवियोगिनी पत्नी दोनों ही इच्छा होने पर पुनर्विवाह के अधिकारी हैं।" (बंगदर्शन ४ खण्ड)।

१५—डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र।

बंगाल में ये महाशय संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के प्रसिद्ध विद्वान् हुवे हैं। इन्होंने प्राचीन साहित्य के अन्वेषण में बड़ा परिश्रम किया है। इनकी संकलित और परिष्कृत, की हुई शतशः पुस्तकें और निबन्ध आदि संस्कृत, बंगला और इंगलिश भाषा में एशियाटिक सोसायटी बंगाल की ओर से प्रकाशित हुई हैं, जिनसे इनकी उच्चकक्षा की योग्यता का परिचय मिलता है। अपनी योग्यता के कारण ही इन्होंने बृटिश सरकार से भी बहुत कुछ सम्मान और उपाधियां प्राप्त कीं। पं० राजाराम शास्त्री काशीनिवासी ने विधवाविवाह के विरुद्ध वेदमन्त्रों के अर्थ का जो अनर्थ किया था, उसकी इन्होंने खूब पोल खोली है और विधवाविवाह को श्रुति, स्मृति और पुराणों से वैध सिद्ध किया है। इन्होंने सन् १८८४ में अपने मित्र मलाबारी को, जो उस समय इङ्गलैण्ड में थे, एक पत्र लिखा था जिसकी कुछ पंक्तियां जो विधवाविवाह से सम्बन्ध रखती हैं, हम यहां उद्धृत करते हैं :—

"विधवाविवाह के विरुद्ध जो प्रमाण दिये जाते हैं, वे पहले इसको शास्त्रविरुद्ध मान कर पीछे खोजे जाते हैं। इस दशा में जो प्रमाण इसके अनुकूल हैं या तटस्थ हैं, उनको भी खींचतान कर इसके प्रतिकूल बनाया जाता है। मेरे कोई विधवा पुत्री नहीं है। यदि होती तो मैं अवश्य उसका पुनर्विवाह करता और उसकी वैधव्य दशा का अनुभव करके मुझ पर या समाज पर उसका कुछ ही प्रभाव क्यों न पड़ता, पर मैं उसकी बिलकुल पर्वा न करता।"

१६—सर रमेशचन्द्र दत्त।

ये महाशय संस्कृत, इङ्गलिश और बंगला के प्रसिद्ध विद्वान् हुवे हैं। इन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेद तथा रामायण और महाभारत के इङ्गलिश में अनुवाद किये हैं, तथा भारत की प्राचीन सभ्यता का इतिहास लिखा है, जो चार भागों में पूर्ण हुवा है, जिससे इनकी गहरी ऐतिहासिक योग्यता का परिचय मिलता है। अपनी योग्यता के ही कारण ये कई वर्ष तक बंगाल में कलेक्टर और कमिश्नर के उच्चपद पर रहे। यही पहले हिन्दुस्तानी थे, जिनके हाथ में सरकार ने एक किस्मत का चार्ज दिया।

इनके गुणों पर मुग्ध होकर ही गुणग्राही हिज़ हाइनेस महाराजा गायकवाड़ ने इनको अपने विस्तृत राज्य का दीवान नियत किया। रियासत बड़ोदा की जो आज उन्नति हुई है और जो किसी २ अंश में बृटिशभारत में भी स्पर्धा की दृष्टि से देखी जाती है, वह यद्यपि महाराजा गायकवाड़ की दूरदर्शिता और प्रजावत्सलता का फल है,। तथापि उसमें दत्त जैसे योग्य कर्मचारियों का भी बहुत कुछ हाथ है। क्योंकि विना योग्य कर्मचारियों की सहायता के कोई शासक शासन में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इनके समय में रियासत बड़ौदे में बहुत कुछ सुधार हुवे और वह देसी रियासतों में आदर्श मानी जाने लगी। शोक कि सन् १९०९ ई० में भारत के इस विद्वान् का बड़ौदे में ही देहान्त होगया। ये भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता के इतिहास में लिखते हैं कि :—

"प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे बहुत से प्रमाण हैं, जिनसे पौराणिक काल में विधवाविवाह का प्रचलित होना सिद्ध होता है। विष्णु कहता है कि

"जिस स्त्री का दूसरी बार विवाह होता है, वह 'पुनर्भू' कहलाती है।" याज्ञवल्क्य कहता है कि "क्षता और अक्षता दोनों का पुनःसंस्कार होना चाहिए।" और पराशर भी यद्यपि वह आधुनिक समय का स्मृतिकार है, ऐसी स्त्री के पुनर्विवाह की आज्ञा देता है, जिसका पति मर गया हो या जातिबाहर या योगी होगया हो"। [प्राचीन सभ्यता का इतिहास चौथा भाग पृ० २५२]

१७—पं० विष्णु परशुराम शास्त्री।

ये दक्षिण में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् हुवे हैं। इन्होंने सन् १८५६ ई० में मराठीभाषा में विधवाविवाह के समर्थन में एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसपर दक्षिण के पण्डितों ने बड़ा कोलाहल मचाया और खण्डनमण्ड आक्षेप किये। इन्होंने उनके युक्तियुक्त और समीचीन उत्तर देकर तथा उपदेश और शास्त्रार्थ करके विपक्षियों का मुंह बन्द किया। पूने के शास्त्रार्थ में जिसमें डाक्टर बुलहर भी मौजूद थे, विधवाविवाह के विपक्षियों को परास्त कर इन्होंने ही यश प्राप्त किया था। इन्होंने अपना विवाहभी एक कुलीन विधवा के साथ किया था और यावज्जीवन इसका प्रचार करते रहे।

१८—दीवान बहादुर पं० रघुनाथराव।

ये महाशय पहले इन्दौरराज के दीवान थे। आजकल मदरास में विकालत करते हैं। संस्कृत में इनकी योग्यता उच्चकक्षा की है। इन्होंने विधवाविवाह के समर्थन में कई पुस्तकें और निबन्ध प्रकाशित किये हैं। इन्हीं की एक पुस्तक से डाक्टर मुकुन्दलाल आगरा ने अपनी सनातनधर्म नामक पुस्तक में अनेक ऋषियों के वचन संग्रह किये हैं, जिन को हमने भी इस पुस्तक के पहले अध्याय में उद्धृत किया है। खेद है कि असिल पुस्तक अनुसंधान करने पर भी हमको न मिली।

१९—डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर।

ये महाशय दक्षिण में संस्कृत के असाधारण विद्वान् हुवे हैं। बम्बई प्रान्त में इन्होंने शिक्षा के प्रचार एवं संस्कार में बड़ा काम किया है। बृटिश सरकार ने भी इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर इनको कई उच्च

उपाधियों से अलंकृत किया है। इनकी बनाई हुई अनेक पाठ्यपुस्तकें शिक्षाविभाग में प्रचलित हैं। स्त्रीशिक्षा और विधवाविवाह के प्रचार में भी दक्षिण में इन्होंने बड़ा काम किया है। केवल वाचिक सहानुभूति ही नहीं, किन्तु अपनी विधवा पुत्री का पुनर्विवाह करके इन्होंने अपने नैतिक बल का परिचय भी जनता को दे दिया। शोक है कि पिछले वर्ष ही इनका देहान्त हो गया।

२०—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ।

हिन्दीभाषी कौन ऐसा होगा, जिसे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का परिचय देना होगा ? हिन्दीभाषा जो आज देवनागरी के पवित्र नाम से पुकारी जाती है और आज समस्त भारत बिना मतभेद के जिसे राष्ट्रभाषा के आसन पर बिठाना चाहता है, यह सब इन्हीं महात्मा के उद्योग का फल है। सचमुच भारत में हिन्दीभाषा की निर्मल चन्द्रिका इन्हीं की चमकाई हुई है, इसलिये इनका भारतेन्दु नाम अन्वर्थ ही है। ये अपने बनाये भारतदुर्दशा नाटक में लिखते हैं :—

जन्मपत्र बिन मिले व्याह नहिं होन देत अब ।
बालकपन में व्याहि प्रीति बल नास कियो सब ॥
करिकुलीन के बहुत व्याह बलवीर्य नशायो ।
विधवाव्याह निषेध कियो व्यभिचार मचायो ॥
रोकि विलायतगमन कूपमण्डूक बनायो ।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो ।

२१—जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे ।

ये महाशय भी संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के पूर्ण विद्वान् थे, अपनी असाधारण योग्यता के कारण ही उन्नति करते २ ये बम्बई हाईकोर्ट के जज होगये। इनके जीवन का बड़ा भाग सामाजिक सुधार में व्यतीत हुवा। विधवाविवाह से इनकी हार्दिक सहानुभूति थी। सरकारी सेवा के उपरान्त इनको जो समय मिलता था, वह समाजसेवा और कुरीति-निवारण में ही व्यतीत होता था। यद्यपि ये राजनीति के पण्डित और यथावकाश उसमें भाग भी लेते थे, लखनऊ में जो पहली कांग्रेस हुई थी,

इसके सभापति भी बन चुके थे। तथापि ये उन नेताओं में से नहीं थे, जो राजनैतिक सुधार को ही सब कुछ समझते हैं। सामाजिक सुधार की आवश्यकता इनकी दृष्टि में सबसे अधिक थी। नैशनल कांग्रेस के साथ जो सोशल कांफ्रेन्स होती है, उसकी योजना इन्होंने ही की थी। उसके अतिरिक्त और भी अनेक सामाजिक संस्थायें इन्होंने स्थापित कीं और उनको सहायता देते और चलाते रहे। इतने उच्चपद पर प्रतिष्ठित होकर भी ये साधारण पुरुषों की भान्ति रहते थे, इनकी चाल और पहनावे को देखकर कोई इनको पहचान नहीं सकता था कि ये हाईकोर्ट के जज होंगे। इन्होंने अपने जीवन में सैकड़ों ही उच्चकुलों में विधवाविवाह कराये, यहां तक कि मरने से कुछ देर पहले भी ये एक भाटियाजाति की विधवा के विवाहोपलक्ष्य में गवर्नर पत्नी लेडी नार्थकोर्ट को आमन्त्रित करने का प्रबन्ध कर रहे थे, परन्तु मृत्यु ने इसका अवसर नहीं दिया।

पूर्णचन्द्र में कलङ्क और फूल में कांटे की भान्ति एक निर्बलता इस समाजसेवक के जीवन में भी खटकती है और वह इनका पहली स्त्री के वियोग में कुमारी कन्या के साथ विवाह करना है। यदि और कोई ऐसा करता तो शायद उसका अपराध क्षम्य हो सकता, परन्तु इन्होंने अपने सिद्धान्त और उद्देश के विरुद्ध यह काम किया, इसलिए वह कदापि क्षमा के योग्य नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इन्होंने यह काम अपनी इच्छा से नहीं किया, किन्तु वृद्ध मातापिता की प्रसन्नता के लिए ही इनको ऐसा करना पड़ा। तथापि यह हेतु पर्याप्त नहीं है। एक दायित्वशील व्यक्ति के लिए मातापिता से भी अधिक ईश्वर की आज्ञा का महत्व होना चाहिए। यदि विधवा के साथ विवाह करने से इनके मातापिता को दुःख होता था तो ये उनकी प्रसन्नता के लिए ऐसा न करते। पर इसका अधिकार इनको कब था कि ये माता पिता की प्रसन्नता के लिए ईश्वरीय नियम की अवज्ञा करते? अस्तु इन्होंने अपने जीवन में सैकड़ों बालविधवाओं का उद्धार किया और हज़ारों मनुष्यों के हृदय में उनके प्रति सहानुभूति उत्पन्न की, इसलिए हम समझते हैं कि इनके इस नैतिक अपराध का प्रायश्चित भी पूरा पूरा हो गया।

२२—जस्टिस गणेशचन्द्रवार्कर ।

ये महाशय भी बम्बई प्रान्त के प्रसिद्ध विद्वान् और योग्य पुरुषों में से थे, शोक कि अभी हाल ही में इनका स्वर्गवास हुवा है। ये दीर्घकाल तक बम्बई हाईकोर्ट के जज रहे हैं और सरकार से बहुत कुछ मान और यश प्राप्त किया। कुछ दिन हुवे बंगाल के निर्वासितों के कारण का अनुसन्धान करने के लिए जो कमीशन नियत हुवा था, उसके एक ये भी सदस्य थे, इन्होंने सरकारी सेवा के अतिरिक्त सामाजिक कार्यों का भार लेकर जनता की भी बहुत कुछ सेवा की है। सच तो यह है कि जस्टिस रानाडे के बाद सामाजिक सुधार का सारा भार इन्होंने ही अपने कन्धे पर धारण किया। सोशल कांफ्रेन्स को जिसकी स्थापना मिस्टर रानाडे ने की थी, सुचारुरूप से चलाना और उपयोगी बनाना इन्हीं का काम था। विधवाविवाह से इनकी पूरी सहानुभूति थी और उसके प्रचार में भी इन्होंने बड़ा काम किया। 'विधवाविवाह' नामक पुस्तक में से हम आपकी सम्मति यहां उद्धृत करते हैं :—

"समाज का स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए विधवाविवाह की बड़ी आवश्यकता है। यदि कोई स्त्री वा पुरुष अपने पहले पति या स्त्री के मरने पर अपना पुनर्विवाह करना न चाहें और अपना शेष जीवन धार्मिक कर्त्तव्यों के पालन करने में लगावें तो वे निःसन्देह समाज में आदर और पूजा के योग्य हैं। परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि उन बालविधवाओं को जिनका पति अलपवय में ही मर गया हो और जो सुहागिन और विधवा के अर्थ को भी न जानती हों, उनको एक महानिष्ठुर और अप्राकृतिक देशाचार के कारण आजन्म वैधव्य का पालन करने के लिए बाधित किया जाय। यद्यपि औपयोगिक रीति पर सवसाधारण अभी इस आवश्यक विषय पर कम ध्यान देते हैं, तथापि यह सन्तोष की बात है कि उनकी सहानुभूति विधवाविवाह से दिन पर दिन बढ़ती जाती है। इस संस्कार से मेरा यह अभिप्राय है कि जो अनुचित प्रतिबन्ध का आवरण इस निष्ठुर आचार ने समाज पर डाला हुवा है, केवल उसको हटा दिया जाय और किसी प्रकार का दबाव किसी पर न डाला जाय। पुनर्विवाह करना

या न करना विधवा और उसके संरक्षकों की इच्छा पर छोड़ दिया जाय।"

२४—जस्टिस काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग।

दक्षिण में ये महाशय भी संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् हुये हैं इन्होंने अपनी असाधारण योग्यता से ऐसे समय में जब कि यहां अङ्गरेज़ी शिक्षा अप्रौढ़ दशा में थी, इसमें पारङ्गत होकर एम० ए० की उच्च डिगरी प्राप्त की और अपनी कार्यदक्षता से बम्बई हाईकोर्ट के जज बनाये गये। बम्बई प्रान्त में सामाजिक सुधार का बीज बोना इन्हीं का काम था। रानाडे और चन्द्र-वाकर तो उसके सींचनेवाले थे। सन् १८६६ ई० में बम्बई में जो विधवा-विवाह सहायक सभा स्थापित हुई थी, वह इन्हीं के सदुद्योग का फल था और येही उसके प्रधान बनाये गये। इस सभा ने विधवाविवाह के प्रचार में उस समय बड़ा काम किया था। मिस्टर तैलंग आजीवन सामाजिक-सुधार का काम बड़े उत्साह से करते रहे, मरते समय अपना चार्ज अपने शिष्य रानाडे को दे गये।

२४—जस्टिस आशुतोष मुकर्जी।

ये ब्राह्मण जाति के भूषण बंगाल के प्रसिद्ध पुरुषों में से हैं। १५ वर्ष तक कलकत्ता हाईकोर्ट की जजी के उच्च पद पर प्रतिष्ठित रह कर अभी हाल में इन्होंने सरकार से पेन्शन ली है और अब स्वतन्त्रतापूर्वक राज-नैतिक और सामाजिक सुधार में भाग लेते हैं। इन्होंने अपनी विधवा पुत्री का विवाह ता० २४ फर्वरी सन् १९०८ ई० में किया। (देखो विधवाविवाह राय बहादुर नानकचन्द रचित) शोक कि अभी हाल में इनका भी देहान्त हो गया।

२५—सर टी० मुथू स्वामी आयर।

ये महाशय मदरास प्रान्त में बड़े विद्वान् और प्रसिद्ध पुरुष हुवे हैं। ये भी अपनी असाधारण योग्यता के कारण मदरास हाईकोर्ट के जज बनाये गये। ये जाति के ब्राह्मण थे, इसलिए इनका विधवाविवाह के पक्ष में होना उसकी उपयोगिता का प्रमाण है। इन्होंने 'भारतीय प्रतिनिधि' नामक पुस्तक में विधवाविवाह के विषय में अपनी जो बहुमूल्य सम्मति प्रदान की है, उसको हम यहां पर उद्धृत करते हैं :—

"स्त्री केवल एक ही विवाह कर सकती है और पुरुष जितने उसका जी चाहे, पहली स्त्रियों के मौजूद होने पर भी कर सकता है। स्त्री और पुरुष के इस वैवाहिक अन्तर को समाज की भेदनीति और भी कठोर बना देती है। इस दशा में यदि कोई सहृदय समाज हितैषी इस विषमाचार को अप्राकृतिक और असमंजस समझ कर इसका प्रतिवाद करे तो वह दोषी नहीं हो सकता। मैं इसी न्याय और मानुषिक सभ्यता के आधार पर विधवाविवाह को उचित और आवश्यक समझता हूं, चाहे वे बाल-विधवा हों, या पति से उनका कुछ सम्बन्ध भी रहा हो।"

२६—दाजी आबाजी खरे बी० ए०

ये महाशय बम्बई हाइकोर्ट के नामी वकील हैं। इनकी विद्या और योग्यता उस प्रान्त में प्रसिद्ध है। सामाजिक सुधार में इन्होंने भी बहुत कुछ भाग लिया है और लेते हैं। इन्होंने विधवाविवाह पर एक पुस्तक प्रकाशित की है, जिसमें बड़ी योग्यता से विधवाविवाह का उचित और वैध होना सिद्ध किया है।

२७—पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी।

ये महाशय पंजाब के फुल्लौर नगर में संस्कृत के असाधारण विद्वान् हुवे हैं इनका बनाया 'सत्यामृतप्रवाह' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जिसमें इन्होंने ऐसी योग्यता से मनुष्य के कर्तव्यों का प्रतिपादन किया है कि उससे आस्तिक और नास्तिक सभी लाभ उठा सकते हैं। उसी ग्रन्थ में ये लिखते हैं:—

"विधवा स्त्री और विपत्नीक पुरुष को यदि उनका मन चाहे तो दूसरा विवाह अवश्य करना चाहिए।" (सत्यामृतप्रवाह पृ० २५१)

२८—पं० गोपाल शर्म्मा शास्त्री।

आप संस्कृत के अन्यतम विद्वान् हैं और हिज़हाइनेस महाराजा काश्मीर के राजगुरु हैं। आपने संवत् १९७० वि० में 'गोपाल सिद्धान्त, नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी, जिस में विधवाविवाह के पोषक अनेक प्रमाण संग्रह किये हैं उसी में एक स्थल पर आप लिखते हैं:—

"जिस कामदेव के वश होकर पर्णाशी विश्वामित्र और पराशर आदि जप, तप और संयम सब भूल गये, जिस महाबली काम ने विष्णुजी महाराज को मोहिनी के पीछे, ब्रह्माजी को अपनी दुहिता के पीछे और देवराज इन्द्र को ऋषिपत्नी अहल्या के पीछे पागल बनाया, इस काम का मुक़ाबला करने के लिए हम इस अबला जाति को, जिसमें स्वभावतः आठ गुणी कामचेष्टा अधिक है, खड़ा करते हैं।" (गोपाल सिद्धान्त पृष्ठ ५)

२९—श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती।

भारत के आबालवृद्ध इन महाशय के नाम और काम से परिचित हैं। आर्यसमाज के जो आज पश्चिमोत्तर भारत में शिक्षा प्रचार और सामाजिक सुधार में सब से अधिक भाग ले रहा है, संस्थापक ये ही महाशय थे। इन्होंने संन्यास धारण करके आजन्म वैदिक धर्म के उपदेश और प्रचार का काम किया। संस्कृत और हिन्दी भाषा में इन्होंने कई ग्रन्थ निर्माण किये हैं, जिनमें "सत्यार्थप्रकाश" प्रसिद्ध है। उसमें प्रस्तुत विषय में ये अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट करते हैं:—

"जिस पुरुष या स्त्री का पाणिग्रहण संस्कारमात्र हुवा हो और संयोग न हुवा हो, अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षत वीर्य पुरुष हो, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ नर्विवाह होना चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ११६)

३०—पं० राधाचरण गोस्वामी।

ये महाशय वैष्णव संप्रदाय के एक प्रतिष्ठित आचार्य वृन्दावन में श्री राधारमण का जो मन्दिर है, उसके अधिष्ठाता और वृन्दावन के म्यूनिसिपल कमिश्नर भी हैं। हिन्दी भाषा से इनको बड़ा प्रेम है, उसमें इन्होंने कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं, जिनमें 'विदेशयात्राविचार' और 'विधवाविवाह विवरण' ये दो पुस्तकें बड़े मार्के की हैं। पहली में इन्होंने समुद्रयात्रा को शास्त्रानुकूल सिद्ध किया है। दूसरी में विधवाविवाह को शास्त्रोक्त सिद्ध करने के अतिरिक्त बालविधवाओं की करुणाजनक दशा का ऐसा हृदयद्रावक चित्र खींचा है कि जिसको देख या सुनकर एकबार तो पाषाणहृदय भी पिघल जावे। उसकी भूमिका में ये लिखते हैं:—

"मैं वैष्णव सम्प्रदाय का एक आचार्य हूं, विवाह आदि संस्कार वैष्णव धर्म से कुछ सम्बन्ध नहीं रखते। ये स्मार्ताचार हैं, इनके विषय में विचार करने से वैष्णव धर्म का कुछ अपमान नहीं होता। यदि इसपर विचार करने से हमारे स्मार्ताचारानुयायी भाई कुछ रुष्ट हों तो उनसे निवेदन है कि मैं विधवाविवाह को शास्त्रोक्त समझता हूं, इसीसे इसका समर्थन करता हूं।" शोक है कि इन महाशय का भी पिछले वर्ष देहावसान हो गया।

३१—पं० विष्णु विट्ठल श्रीखण्डे।

ये महाशय जबलपुर नॉरमल स्कूल के अध्यापक थे। इन्होंने हिन्दी में एक पुस्तक प्रकाशित की है, जिसका नाम 'विधवादुःखनिवारण है और जिसमें श्रुति स्मृति के प्रमाणों से विधवाविवाह का वैध होना सिद्ध किया गया है।

३२—पं० श्रीधरपाठक।

आप संस्कृत के विद्वान् और हिन्दी के परम हितैषी हैं। प्रयाग साहित्य सम्मेलन के आप सभापति भी बन चुके हैं, सस्कृत और हिन्दी दोनों में ही मर्मस्पर्शिनी कवितायें करते हैं, जिनका विद्वानों में बड़ा आदर है। आप अपनी एक नवीन कविता में लिखते हैं :—

"प्रीति मान मर्याद की विधि सूल सों मिट गई।
निरपराधिनि बालिका लघु वयस् मृदु लरकई॥
ब्याहि रांड बनाइये, यह कौनसी सुघरई।
जन्म भर त्रियदेह जारत काम बल कठिनई॥
निबल प्रान सताइवे में कहु कहा ठकुरई।
स्वार्थ प्रिय पाषान सो हिय निपट शठ निरदई॥
बालविधवा शाप बस यह भूमि भई पातकमई।
होत दुःख अपार सजनी निरखिकर जग निठुरई॥

३३—ला० गंगाप्रसाद एम० ए० उपाध्याय।

आप इस समय न केवल आर्यसमाज के भूषण हैं, किन्तु समस्त

हिन्दूजाति को आप जैसे योग्यविद्वान् और देशभक्त का गर्व है । आप प्रस्तुत विषय में अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट करते हैं :—

'भारतवर्ष में विधवाओं की दुर्दशा है, न केवल वही दुःखी हैं, किन्तु उनके कारण समस्त जाति दुःखी है । कहते हैं कि कानी आँख से लाभ कुछ नहीं, परन्तु जब दुखने आ जाय तो पीड़ा देती है । किन्तु विधवायें वे कानी आँख हैं, जो नित्य दुखती ही रहती हैं । आजकल भारतवर्ष में बालविवाह तथा अन्य कुरीतियों के कारण विधवाओं की संख्या इतनी बढ़ गई है और एक वर्ष से लेकर पाँच, दस, पन्द्रह तथा बीस वर्ष की आयु की इतनी विधवायें हैं कि जाति के नेताओं के लिये यह एक बड़ी विभीषिका हो गई है ।" (चाँद अप्रैल २३ ई०)

३४—रायबहादुर नानकचन्द सी-आई-ई ।

ये महाशय पहले इन्दौर स्टेट के दीवान थे, इनकी योग्यता इनके पद और कार्यदक्षता से प्रकट है । ये वैश्यजाति के भूषण हैं । सन् १९०९ ई० में इन्होंने अपने पुत्र का एक विधवा के साथ विवाह किया था । अपनी अनाथा विधवा पुत्री का जो पुनर्विवाह करते हैं, वे तो प्रशंसा के योग्य हैं ही पर अपने पुत्र का जो विधवा के साथ विवाह करते हैं वे उनसे भी अधिक प्रशंसा के योग्य हैं । इसलिए कि उनको तो कुमारी कन्यायें मिल सकती थीं, पर विधवाओं के लिए अभी हिन्दूसमाज में योग्य वर का मिलना कठिन है । इसलिए किसी विधवा के लिए योग्यवर को तयार करनेवाले वस्तुतः अधिक धन्यवाद के पात्र हैं । इन महाशय ने वैश्य जाति के लिए कैसा उत्तम आदर्श उपस्थित किया है, अब भी वह यदि इससे लाभ न उठावे तो यह जाति की मन्दभाग्यता है । इन्होंने 'विधवा-विवाह' नाम की एक पुस्तिका भी हिन्दी में प्रकाशित की है जिसके अन्त में ये लिखते हैं :—

"इससे सिद्ध होता है कि विधवाविवाह शास्त्र से अनुमत और विद्वानों के सम्मत है और इसके रोकने में एक प्रकार का पाप है । इसलिये सज्जन पुरुषों को इस विषय में पूर्ण विचार करके अनाथ विधवाओं की सहायता करनी चाहिये ।"

३५—रायबहादुर डाक्टर मुकन्दलाल।

ये महाशय आगरे में सिविल सर्जन थे, इन्होंने मेडिकल सर्विस में बहुत कुछ यश और साथ ही धन भी उपार्जन किया। सरकार ने इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर इनको वाइसराय का फ़ैमिली डाक्टर नियत किया था। ये जाति के कायस्थ थे, इनकी प्यारी पुत्री ९ वर्ष की अवस्था में विधवा हो गई थी, उसका ये पुनर्विवाह करना चाहते थे। परन्तु विवाह से पहले इन्होंने इस विषय में अपने जातीय बान्धवों की सम्मति लेनी चाही। अब तो शिक्षा के प्रचार से प्रत्येक जाति में विधवाविवाह से सहानुभूति रखनेवाले पुरुष मिलते हैं, उस समय यह बात न थी। इनके इस प्रस्ताव का कायस्थजाति ने बड़ा विरोध किया। इस पर इन्होंने पण्डितों से व्यवस्था ली और एक पुस्तक 'सनातनधर्म' के नाम से जिसमें विधवा-विवाह का श्रुति स्मृति और पुराणों से समर्थन किया गया है प्रकाशित की। परन्तु जातीय विरोध के कारण इनको अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। निदान विधवा पुत्री के दुःख से संतप्त होकर ही इनकी आत्मा ने इस भौतिक शरीर को त्यागा।

३६—राय डाक्टर मुरारीलाल।

ये महाशय पहले कानपुर में हेल्थ आफ़िसर थे, अब अवसरग्राही होकर स्वतन्त्र चिकित्सा का व्यवसाय करते हैं। ये जाति के वैश्य हैं। इन्होंने भी सन् १९०४ ई० में अपनी विधवा भगिनी का पुनर्विवाह करके अपने नैतिक बल का परिचय दिया है। इन्होंने उर्दू में एक पुस्तक 'रिसाले विधवाविवाह' के नाम से प्रकाशित की है, जिसमें बड़ी खोज और परिश्रम से शास्त्रीय प्रमाणों का सन्निवेश किया गया है और विरोधियों के आक्षेपों के उत्तर भी बड़ी योग्यता से दिये गये हैं। आप उसकी भूमिका में लिखते हैं:—

"वर्तमान काल की अल्पवयस्का, दयनीया, हिन्दू विधवाओं की दशा जैसी कुछ शोचनीय है, वह वर्णनातीत है। विधवाविवाह के अप्रचार से जो जो सामाजिक और नैतिक बुराइयां हमारे समाज में प्रचलित हो गई

हैं, वे किसी समाज के शुभचिन्तक से छिपी नहीं है । बालविवाह के प्रचार ने उन बुराइयों को और भी भयानक कर दिया है । इसलिए प्रत्येक देश-हितैषी का कर्तव्य है कि वह उन अनर्थों के और साथ ही इन बालविधवाओं के दुःख दूर करने में यथाशक्ति यत्न करके धन्यवाद का पात्र हो ।"

३७—पं० शंकरलाल श्रोत्रिय ।

ये महाशय गौड़ ब्राह्मण थे । इन्होंने अपना सारा जीवन ही विधवा-विवाह के प्रचार में अर्पण कर दिया था । उत्तर भारत के उच्च कुलों में इनके प्रयत्न से सैकड़ों ही विधवाविवाह हुये । बीसियों अनाथ विधवाओं के इन्होंने अपना धन लगाकर विवाह कराये और कन्याओं को अपनी तरफ़ से यौतुक प्रदान किया । जिन विधवाओं का कोई कन्यादान करने वाला नहीं होता था, ये स्वयं पिता के आसन पर बैठ कर कन्यादान करते थे । मरते दम तक इनको इसी की धुन रही । पहली स्त्री का वियोग होने पर इनको विवाह करने की इच्छा न थी, क्योंकि जिसके लिए विवाह करते हैं, वह सन्तान इनके मौजूद थी । पर जब लोगों ने इन पर आक्षेप करने आरम्भ किये और ये शब्द इनके कानों ने सुने कि 'दूसरों के घर ही आग लगाना आता है, अपने घर में आग लगावें तब हम जानें ।" तब इनसे न रहा गया और आवश्यक न होने पर भी इन्होंने एक विधवा के साथ विवाह किया । इनकी जातिवालों ने बड़ा विरोध किया और इनके साथ खानपान आदि व्यवहार भी त्याग दिया, पर इसकी इन्होंने कुछ परवा न की । यह ध्रुव के समान अपने पवित्र उद्देश पर जमा रहा ।

इन्होंने विधवाविवाह के विषय में कई पुस्तकें भी लिखी हैं, जिनमें 'विधवा पुनःसंस्कार' प्रसिद्ध है, जिसमें श्रुति, स्मृति और पुराणों के अनेक प्रमाणों से विधवाविवाह का वैध होना सिद्ध किया है । एक मासिकपत्र भी "अबला हितकारक" नाम से ये निकालते थे । उसमें विधवाविवाह सम्बन्धी बहुत से लेख और समाचार प्रकाशित होते थे । शोक कि इनकी मृत्यु के साथ उस पत्र का भी अन्त हो गया ।

३८—डाक्टर तेजबहादुर सप्रू ।

भारत के आधुनिक राजनैतिक नेताओं में आप मुख्य समझे जाते

हैं। आपकी क़ानूनी योग्यता सरकार और जनता दोनों की दृष्टि में आद-रणीय है। कई वर्ष तक आप भारत सरकार की क़ानूनी कौन्सिल के मेम्बर रह चुके हैं। कुछ दिन हुवे आप लन्दन की इम्पीरियल कान्फ्रेंस में भारत सरकार के प्रतिनिधि होकर गये थे और वहां आपने जो मार्मिक वक्तृता दी थी, उसकी न केवल भारत में किन्तु साम्राज्य भर में प्रशंसा हुई थी। विधवाविवाह के विषय में आपने जो अपनी सम्मति प्रकट की है। हम प्रयाग के मासिकपत्र चाँन्द से यहां उद्धृत करते हैं। उक्त पत्र के प्रतिनिधि के यह पूछने पर कि विधवाविवाह के सम्बन्ध में आप के क्या विचार हैं? आपने कहा :—

"मैं सर्वथा विधवाविवाह के पक्ष में हूं, विधवाओं का पुनर्विवाह अवश्य होना चाहिये, ऐसा न करना मैं मनुष्यता के विरुद्ध समझता हूं।"

पुनः यह प्रश्न करने पर कि क्या सब विधवाओं के सम्बन्ध में आपका यही विचार है? आपने कहा :—

"बालविधवाओं का पुनर्विवाह तो अवश्य ही होना चाहिये। पर अन्य विधवाओं की इच्छा पर पुनर्विवाह का प्रश्न छोड़ देना चाहिये। यदि स्त्री की इच्छा हो तो इसमें किसी प्रकार की रोक टोक न होना चाहिए और समाज में उनके प्रति अश्रद्धा के भाव न होने चाहिए।"

३६—महात्मा मोहनचन्द कर्मचन्द गान्धी ।

क्या भारतीयों के लिए महात्मा गान्धी के भी परिचय देने की आवश्यकता है? भारतवर्ष में ही नहीं किन्तु संसार में महापुरुष माना-जाने वाला महात्मा गांधी अपनी विधवा बहनों के विषय में नवजीवन में निम्नलिखित सम्मति प्रकट करता है :—

१—बालविवाह एक दम रोक दिया जावे।

२—जब तक पति और पत्नी इस अवस्था तक न पहुंचे कि एक दूसरे के साथ रह सकें, तब तक उनका विवाह न होना चाहिए।

३—जो बालिकायें अपने पति के साथ नहीं रही हैं, उन्हें केवल विवाह करने की आज्ञा ही नहीं, किन्तु उसके लिए उत्साहित भी

करना चाहिए । ऐसी लड़कियों को तो विधवा खयाल ही न करना चाहिये ।

४—वे विधवायें जिनकी अवस्था १५ वर्ष तक है या जो अभी युवती हैं, उन्हें पुनर्विवाह करने की आज्ञा देना चाहिये ।

५—विधवा को लोग अशुभ समझते हैं, किन्तु इसके विपरीत उन्हें पवित्र समझना चाहिए ।

६—विधवाओं की शिक्षा का उचित प्रबन्ध होना चाहिए ।

४०—पं० कृष्णकान्त मालवीय ।

आप मालवीय कुल के भूषण हैं, परम देशभक्त होने के अतिरिक्त आप में जो विशेष गुण है, वह आपकी स्पष्टवादिता है । आप जिस निर्भीकता से सरकार के दोषों की आलोचना करते हैं उसी से अपने समाज की निर्बलताओं को भी प्रकट करते हैं । बड़े २ संकट और भीड़ के अवसरों पर भी आपने अपने आत्मिक बल का परिचय दिया है । प्रस्तुत विषय में हम आपकी सम्मति अप्रैल सन् १९२३ के 'चांद' प्रयाग से उद्धृत करते हैं :—

"जो विधवायें विवाह करना चाहें, उनके मार्ग में अड़चनें न होनी चाहियें । इसके साथ ही बालविधवाओं को उनकी अवस्था और भविष्य पर ध्यान रखते हुवे यह परामर्श देना कि वे अपना विवाह करलें, अनुचित न समझा जाना चाहिए ।"

४१—पं० रमाशंकर अवस्थी ।

आप प्रताप और वर्तमान आदि कई उच्चकोटि के समाचार पत्रों का संपादन करचुके हैं । आपकी देशभक्ति और स्पष्टवादिता भी समाचार पत्रों के पाठकों से छिपी नहीं है । आप विधवाओं की करुणाजनक दशा पर 'वर्तमान' में लिखते हैं :—

'लाखों विधवायें हिन्दू जाति के नाम पर रो रही हैं । लेकिन निर्दय और हृदयहीन हिन्दू जरा भी दयार्द्र नहीं होते । यह घोर अधर्म देश को,

जाति को, धर्म को और समाज को एक दिन ले डूबेगा और शीघ्र ही इस भयंकर भूल का सुधार न किया जायगा तो हिन्दूजाति का संसार से नाम मिट जायगा ।"

४२—प्रोफेसर मैक्समूलर ।

शिक्षित भारतवासियों में कौन ऐसा है, जो इस जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् को नहीं जानता । विदेशी होकर इन्होंने संस्कृत साहित्य का जैसा परिशीलन किया हैं, उसकी सहस्रमुख से प्रशंसा करनी पड़ती है । इन्होंने संस्कृत के बड़े बड़े प्राचीन ग्रंथों का जीर्णोद्धार किया है और उन पर बड़ी अनुसन्धानात्मक और पाण्डित्यपूर्ण प्रस्तावनायें एवं अनुक्रमणिकायें लिखी हैं । ऋग्वेद तथा और कई वैदिक ग्रन्थों का इङ्गलिश में अनुवाद किया है । निदान प्राचीन संस्कृत साहित्य के उद्धार में इन्होंने जो प्रयत्न और परिश्रम किया है, उसकी प्रशंसा भारतीय विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से की है । ये महाशय अपने "चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप" नामी ग्रन्थ के ३१२ पृष्ठ में लिखते हैं :—

"मैंने जहां तक वेदों का अध्ययन किया मुझे कोई ऐसा मंत्र नहीं दीख पड़ा, जिसमें बालविवाह की आज्ञा और विधवाविवाह का निषेध किया गया हो । "

४३—मिस्टर जान दी मैन ।

ये महाशय कानून के प्रसिद्ध पण्डित हुवे हैं इन्होंने हिन्दू ला के संबंध में कई पुस्तकें लिखी हैं जिनका भारत के न्यायालयों में बड़ा आदर है । ये अपनी कानून की प्रसिद्ध पुस्तक "मैन आफ हिन्दूला" के पृष्ठ ९५ व ९६ में लिखते है :—

"स्त्रियों के पुनर्विवाह के निषेध या वैधव्य की दशा में उनका त्याग प्राचीन हिंदू कानून या रिवाज के अनुसार सिद्ध नहीं होता । डाक्टर मेयर ने वेदों के मंत्र उद्घृत किये हैं, जो विधवाविवाह की आज्ञा देते हैं । आरम्भ के शास्त्रकारों ने स्त्रियों के पुनर्विवाह की आज्ञा दी है, जिन्होंने अपने पति को त्याग दिया हो या जिनका पति मर गया हो ।"

४४—डाक्टर बुल्हर।

ये भी संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे इनकी आयु का विशेष भाग संस्कृत साहित्य के अध्ययन और अनुशीलन में व्यतीत हुआ। पूना के शास्त्रार्थ में जो पं० विष्णु शास्त्री का विधवाविवाह के विपक्षियों से हुआ था, ये भी मौजूद थे। इन्होंने उसमें पं० विष्णु शास्त्री को बड़ी अमूल्य सहायता दी थी।

कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीयारण्यक के प्रपाठक ६ का १४वां मंत्र, जिसके भाष्य में सायण ने स्पष्ट विधवाविवाह का विधान किया है, इन्होंने ही खोजकर निकाला था, जिसको देखकर विपक्षियों के मुंह सूख गये।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने विधवाविवाह के अनुकूल अपनी सम्मति प्रकट की है। यहां पर हम केवल उनका संक्षिप्त परिचय भी दें तो यह पुस्तक बहुत बढ़ जायगी। अतएव अब हम प्रसिद्ध, देशभक्त ठाकुर शिवनन्दनसिंह की सम्मति को जो उन्होंने विधवाओं की शोचनीय दशा पर स्वरचित 'देशदर्शन' नामक पुस्तक में प्रकट की है, उद्धृत करके इस परिशिष्ट प्रकरण को समाप्त करते हैं।

४५—ठाकुर शिवनन्दनसिंह।

"सब के ऊपर भारत में २ करोड़ ६० लाख से अधिक विधवायें हैं। मैं इनके आचरण पर आक्षेप नहीं करता। पर सोचने की बात है कि इनमें प्रायः सभी मूर्खा हैं। वेद, शास्त्र, धर्म और ज्ञान से सर्वथा वञ्चित हैं। वे केवल यह जानती हैं कि उनके कुल में विधवाविवाह नहीं होता। क्यों नहीं होता? इस का वे कुछ उत्तर नहीं दे सकतीं। केवल भाग्य में लिखा है, कर्म फूट गया है, आदि कहकर मन की तरङ्गों को शान्त करती हैं। पर इन स्त्रियों की शैतान पंडों, पुरोहितों या ऐसे ही अन्य पाखंडियों से भेट हो जाने पर और मौक़ा मिलने पर भाग्य के बल पर ये कब तक कामदेव से युद्ध कर सकती हैं? आख़िर तो मूर्खा स्त्रियां ही ठहरीं न, उनकी कमज़ोरी उन्हें यह समझा कर संतोष करने के लिए लाचार कर देती है कि 'यह दुराचार भी विधाता ने उनके भाग्य में लिख रक्खा होगा,

वे स्वयं धर्मच्युत नहीं हो रही हैं, किन्तु यह भी उनके दुर्भाग्य का परिणाम है। जिस दुर्भाग्य ने उन को जर्जर पति की पत्नी बनाया और उसे भी रहने न दिया, वही भाग्य पिशाच उन को आज गढ़े में झोंक रहा है। चलो यह भी सही "विधि का लिखा को मेटनहारा ?"

"विश्वबन्धु के मकान के पास ही एक कुलीन ब्राह्मण महाशय का घर था। उनके यहां एक परम रूपवती युवती विधवा थी। उनके घर पर्दे का कड़ा नियम था तो भी विश्वबन्धु बे रोक टोक जाया करते थे। कुछ दिनों के बाद जब न जाने क्यों ब्राह्मण महाशय ने मकान छोड़ देने का निश्चय किया, तब विश्वबंधु ने अपनी मां से कह सुन कर उस मकान को मोल ले लिया। ब्राह्मण महाशय सपरिवार अपने देश कन्नौज को चले गये। विश्वबंधु ने उस मकान की मरम्मत शुरू कराई। एक कोठरी जिसे पण्डिताइन ठाकुरजी की कोठरी कहा करती थीं और जो साल में केवल कुलदेवता की पूजा के समय खोली जाती थी, बड़ी सड़ी नम और बदबूदार थी। उसे पक्की करा देना निश्चय हुवा। नम मिट्टी को खोदने के लिए मज़दूर लगाये गये। सुना जाता है कि उसमें से एक ही उमर के बच्चों के कई पंजर निकले। एक तो बिलकुल हाल ही का दफ़नाया जान पड़ता था। प्रभो! भारत को ऐसे भयङ्कर पापों से बचाइये !!"

"भारत में ये कई लाख वेश्यायें कौन हैं ? हम भारतवासियों के घर की विधवायें, हमारी ही बहनें और बेटियां तथा उनकी सन्तति। हमारी ही असावधानी, निर्दयता और निष्ठुरता के कारण उनकी यह दशा हुई है।

हमारा समाज जिसे हम मूर्खतावश अत्युत्तम समझ बैठे हैं और जिसकी बनावटी पवित्रता पर हम फूले नहीं समाते, बिलकुल निर्जीव, निर्बल और सर्वथा अशिक्षित मनुष्यों का समूह है। इस समाज को सच्चरित्र स्त्रियों का शाप और दुश्चरित्र स्त्रियों का पाप भस्मीभूत कर रहा है और यदि इस पर लोगों ने ध्यान न दिया तो ये शाप और पाप कुछ ही काल में समाज को जलाकर भस्मसात् कर देंगे। सावधान ! ! !

[देशदर्शन पृ० १८०—१८२]

॥ समाप्त ॥

विधवोद्वाहमीमांसा पर कुछ सम्मतियां

INDIAN SOCIAL REFORMER
Bombay.

Vidhavodhvaha Mimamsa is a Hindi Book, advocating re-marriage of Hindu Widows by Pandit Bhadridutt Joshi, containing extensive and authoritative information on the same. The author has spared no pains in dealing with objections raised by the opponents basing his arguments on Vedas, Smrithies etc., considered to be sacred by the Hindus. The author's reasoning is sane and convincing, we cannot but admire his spirit and method. The book will be useful to those who wonder how old prudent people who discoursed on so many natural truths and those ancient law givers who, from time to time, guided humanity, could have left such an important social problem untouched. The book is written in an easy style with profuse quotations from the ancient Shastras. The defect is that no Hindi rendering is given of the Sanskrit quotations. The book contains

four chapters of 256 pages with a good introduction.

Marriage, its effect on Society, Widows, their present deplorable condition are most vividly described in the Introduction with a list of references consulted ranging from the Vedas to Mayne's Hindu Law.

The first chapter deals with the subject from the stand-point of the Vedas based on Sayana's recognised commentary, supplemented by Manusmrithi. There is a clear attempt in the second chapter to answer almost all objections generally raised by opponents. How the masses and the orthodox people always considered the customs and traditions as religious and how the same hue and cry was raised when some of the most cruel customs like Sati etc., were abolished in 19th Century, is exhaustively dealt with in the third chapter. The fourth chapter deals with the evil effects that re-act upon Society by prohibiting such remarriages. The collection of opinions of great men from early days enhances the value of the book. The opinions of early Scholars like Mithra Misra, Neelakantha

Misra of 14th Century, Neelakantha Bhat of South India of 17th Century, and the collection of the opinions of modern reformers like Iswara Chandra Vidyasagar, Gurudas Banerji and also of orthodox conservatives like the late Sir T. Muthusami Aiyer add much to the value of the book.

सरस्वती प्रयाग

विधवोद्वाह के मण्डन में शास्त्रीय और लौकिक प्रमाणों का अच्छा संग्रह किया गया है। विरुद्ध पक्ष के भी प्रमाण और उनकी उचित आलोचना की गई है। इस प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी बातों की विवेचना इसमें की गई सुधार प्रेमियों के बड़े काम की चीज़ है।

माधुरी लखनऊ

इस पुस्तक के लेखक ने विधवाविवाह को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के उद्देश्य से एक बड़ा विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण अध्याय लिखा है। विधवा-विवाह के पक्ष में विक्रम की चौदहवीं शताब्दी से लेकर आधुनिक विद्वानों तक की सम्मतियों का अच्छा संग्रह किया है। इसके पढ़ने से पाठकों को बहुत सी नई बातों का ज्ञान हो सकता है।

आज बनारस

इस पुस्तक में शास्त्रीय और लौकिक प्रमाणों से विधवाविवाह की निष्पक्ष आलोचना की गई है। प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों की सम्मतियां उद्धृत की गई हैं। युक्ति और तर्क से भी विधवाविवाह की आवश्यकता प्रमाणित की गई है।

आर्यमित्र आगरा

यह पुस्तक बड़ी गवेषणा से लिखी गई है। इसमें केवल तर्क से ही

नहीं, किन्तु शास्त्रीय प्रमाणों से भी विधवोद्वाह के पक्ष का समयोचित उत्तर दिया गया है। भारतीय जनता के सम्मुख विधवोद्वाह का विकट प्रश्न उपस्थित है। ऐसे समय ऐसी मीमांसा की बड़ी आवश्यकता थी।

आर्यमार्तण्ड अजमेर

इस पुस्तक में विधवाविवाह का वैध होना अनेक सबल और प्रभावशाली युक्तियों तथा प्रमाणों द्वारा, सिद्ध किया गया है। श्रुति, स्मृति तथा पुराणों के अनेक प्रमाणों, ऐतिहासिक उदाहरणों और लोकाचार के आधार पर किये गये आक्षेपों की धार्मिक एवं अनुसन्धानात्मक आलोचना से पुस्तक परिपूर्ण है। लेखक के विचारों से कहीं कहीं पर किसी का मतभेद हो, यह दूसरी बात है, परन्तु लेखक अपने उद्देश में सफल हुवे हैं, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। जहां विधवाविवाह के प्रतिपक्षी इसके द्वारा अपनी अनेक शंकायें निवृत्त कर सकते हैं, वहां सपक्षी इसके अध्ययन से अपने ज्ञान, अनुभव और उत्साह की बहुत कुछ वृद्धि कर सकते हैं। पुस्तक अपने ढंग की हिन्दी साहित्य में पहली है।

स्वर्गीय श्री पं० राधाचरण गोस्वामी वृन्दावन

आपकी विधवोद्वाहमीमांसा मैंने बड़े आग्रह से पढ़ी। मैंने इस विषय के खण्डन मण्डन के प्रायः सब ही ग्रन्थ पढ़े हैं, आपके ग्रन्थ की लेखशैली अपूर्व है. युक्तियां अकाट्य हैं। संग्रह प्रशंसनीय है। हिन्दी में यह ग्रन्थ इस विषय में अपूर्व है। विधवाविवाह के विषय में जितना ही आलोडन कीजिए, उतना ही नवीन तत्व निकलता है। मैं आशा करता हूं कि आप भविष्य में भी इस प्रसंग में सचेष्ट रहेंगे।

स्वामी दयानन्द बी० ए० सनातन धर्मोपदेशक

यद्यपि मैं आपके बहुत से सिद्धान्तों से सहमत नहीं हूं, तथापि मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि आपने परपक्ष खण्डन और स्वपक्ष मण्डन में उदारता और बुद्धिमत्ता से काम लिया है।

सेठ रामगोपाल मोहता बीकानेर

आप की रचित "विधवोद्वाह मीमांसा" प्राप्त हुई इसके लिए अनेक

धन्यवाद। पुस्तक बहुत ही सुन्दर और प्रभावोत्पादक लिखी गई है। आशा है इससे समाज का बड़ा उपकार होगा और विधवाओं के उद्धार में बड़ी सहायता मिलेगी। इस तरह के साहित्य की बड़ी आवश्यकता है।

मंत्री गोखले सरस्वती सदन कासगंज

आपकी भेजी हुई अमूल्य पुस्तक "विधवोद्वाहमीमांसा" मिली, आद्योपान्त पढ़ने पर ज्ञात हुवा कि पुस्तक बड़ी खोज, परिश्रम तथा विद्वत्ता से लिखी गई है। पुस्तक की सामयिकता का तो कुछ कहना ही नहीं।

पं० जयदेव शर्मा मंत्री वि० वि० सहायकसभा कलकत्ता

आपकी भेजी हुई "विधवोद्वाह मीमांसा" प्राप्त हुई, तदर्थ धन्यवाद, हमने आपकी पुस्तक साद्यन्त देखी, पुस्तक समयोपयोगी तथा उचित दृष्टि से लिखी गई है। इसके आधार पर हम पर्याप्त बल से अपनी सभा का कार्य चला सकेंगे।

[हमने नमूने के तौर पर थोड़ी सी सम्मतियों का सार दिया है यदि सब सम्मतियों का सार दिया जावे तो एक छोटी सी पुस्तक इसी की बन जायगी। इसलिए जब पुस्तक स्वयं अपना परिचय देने के लिए प्रस्तुत है, तब हम अधिक सम्मतियों का उद्धरण करना अनावश्यक समझते हैं।—लेखक]

हिन्दुस्तान प्रेस, १ प्रयाग स्ट्रीट इलाहाबाद।